धर्मशास्त्र एवं मानवधर्म

Dharmashastra Evam Manavadharma



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
की एम० फिल्० उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु शोध-प्रबन्ध

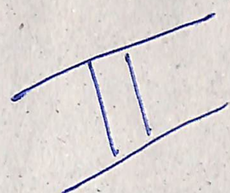
Supervisor :

Prof. (Dr.) Jagir Singh
P.G. Department of Sanskrit,
University of Jammu,
Jammu (J&K).

Research Scholar :

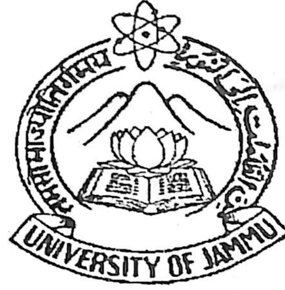
Joginder Kumar
Shastri, M.A.

जून, 2010


II

धर्मशास्त्र एवं मानवधर्म

Dharmashastra Evam Manavadharma



स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
की एम० फिल्० उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु शोध–प्रबन्ध

Supervisor :

Prof. (Dr.) Jagir Singh
P.G. Department of Sanskrit,
University of Jammu,
Jammu (J&K).

Research Scholar :

Joginder Kumar
Shastri, M.A.

जून, 2010

CERTiFICATE

It is certified that **Mr. Joginder Kumar** has worked under my supervision and the work done by him is worthy of consideration for the award of Degree of Master of Philosophy in Sanskrit entitled-

Dharmashastra Evam Manavadharma

"धर्मशास्त्र एवं मानवधर्म"

It is further certified that –

(a) The dissertation is the original research work of the candidate himself.

(b) The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by statute of University of Jammu.

(c) The topic has been duly approved by the Research Committee of the Sanskrit Department, University of Jammu, Jammu.

(d) The candidate has put his attendance and attended International and National Seminars and Conferences in the Sanskrit Department under rule.

(e) The work and conduct of the candidate remained satisfactory during the research period.

Recommended & Forwarded

Onshaw
17-6-2010

Head of Department
P.G. Department of Sanskrit,
University of Jammu,
Jammu (J&K)

Head
Department of Sanskrit
University of Jammu

Jagir Singh

(Prof.(Dr.) Jagir Singh)
Supervisor,
P.G. Department of Sanskrit,
Jammu (J&K)

Date 17-6-2010

विषयानुक्रमणिका

शब्द संकेत-सूची

शब्द संकेत–सूची

1.	अ० पु०	अग्निपुराण
2.	अङ्गि० स्मृ०	अङ्गिरसस्मृति
3.	अ० वे०	अथर्ववेद
4.	अ० रा०	अध्यात्मरामायण
5.	अ० व० गी०	अष्टावक्रमहागीता
6.	अ० स्मृ०	अत्रिस्मृति
7.	आ० रा०	आनन्दरामायण
8.	आ० स्मृ०	आपस्तंबस्मृति
9.	ईशा० उप०	ईशावास्योपनिषद्
10.	ऋ० वे०	ऋग्वेद
11.	औ० स्मृ०	औशनसस्मृति
12.	कठ० उप०	कठोपनिषद्
13.	कु० सं०	कुमारसम्भवम्
14.	क्या०क०क्या, न०क०	क्या करें, क्या न करें ?
15.	गरु० पु०	गरुड़पुराण
16.	चा० नी०	चाणक्यनीति
17.	छा० उप०	छान्दोग्योपनिषद्
18.	जी० च० अं०	जीवनचर्या –अङ्क कल्याण
19.	ज्यो० त० वि० सं०	ज्योतिष तत्त्व विवेचनी संहिता
20.	तै० उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
21.	द० स्मृ०	दक्षस्मृति
22.	दु० स०	दुर्गासप्तशती
23.	ध० शा० अं०	धर्मशास्त्राङ्क
24.	ना० पु०	नारदपुराण

25.	प० यो० सू०	पतञ्जलयोगसूत्र
26.	प० पु०	पद्मपुराण
27.	परा० स्मृ०	पराशरस्मृति
28.	बृहदा० उप०	बृहदारण्यकोपनिषद्
29.	बृहस्० स्मृ०	बृहस्पतिस्मृति
30.	ब्र० पु०	ब्रह्मपुराण
31.	भ० गी	भगवद्गीता
32.	भा० पु०	भागवतपुराण
33.	म० स्मृ०	मनुस्मृति
34.	म० भा०	महाभारत
35.	मा० ध०	मानवधर्म
36.	मा० क० पु०	मार्कण्डेयपुराण
37.	मुण्ड० उप०	मुण्डकोपनिषद्
38.	य० वे०	यजुर्वेद
39.	या० व० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
40.	यो० सू०	योगसूत्र
41.	र० वं०	रघुवंश
42.	रा० च० मा०	रामचरितमानस
43.	लि० स्मृ०	लिखितस्मृति
44.	वसि० स्मृ०	वसिष्ठस्मृति
45.	वा० रा०	वाल्मीकिरामायणम्
46.	वि० नी०	विदुरनीति
47.	वि० पु०	विष्णुपुराण
48.	वि० स्मृ०	विष्णुस्मृति
49.	वे० सा०	वेदान्तसार
50.	व्या० स्मृ०	व्यासस्मृति

51.	शं० स्मृ०	शंखस्मृति
52.	शि० पु०	शिवपुराण
53.	शु० नी०	शुक्रनीतिसार
54.	श्वे० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
55.	सा० अं०	साधनाङ्क
56.	सा० वे०	सामवेद
57.	स्क० पु०	स्कन्दपुराण
58.	हा० स्मृ०	हारीतस्मृति
59.	हि० उप०	हितोपदेश

प्राक्कथन

प्राक्कथन

मेरा जन्म धार्मिक विचारधारा रखने वाले परिवार में होने एवं माता–पिता की अभिरुचि देववाणी संस्कृत में होने के कारण मेरी भी अभिरुचि देववाणी संस्कृत में हुई। प्राथमिक–कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् जम्मू विद्यापीठ की प्रथमा–कक्षा में प्रवेश लिया। प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री और स्नातकोत्तर (ज्योतिषाचार्य) की परीक्षायें उत्तीर्ण करने के पश्चात् एम० फिल्० उपाधि के लिये संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। एम० फिल्० में मेरी रुचि धर्मशास्त्र के प्रति हुई और मैंने अपने गुरु जी से प्रार्थना की कि मैं धर्मशास्त्र विषय पर शोध करना चाहता हूँ। उन्होंने मेरी इच्छानुसार मुझे 'धर्मशास्त्र एवं मानवधर्म' विषय पर शोध करने की स्वीकृति दे दी। विभागीय शोधकार्य समिति ने भी मुझे इस विषय पर शोध करने की अनुमति प्रदान की। प्रस्तुत शोध कार्य को मैं ने पाँच आध्यायों में विभक्त किया है–

'धर्म का स्वरूप' नामक प्रथम अध्याय में मैंने धर्म का व्युत्पत्तिपरक अर्थ, धर्म की परिभाषा, धर्म के लक्षण, इन विषयों का विस्तृत वर्णन किया है।

''धर्म विषयक विभिन्न मत'' नामक द्वितीय अध्याय में वैदिक मत, स्मृतियों का मत, पौराणिक मत, महाकाव्यों का मत, आदि में धर्म की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है।

'धर्म के स्रोत' नामक तृतीय अध्याय में वेद, स्मृति, सदाचार, अत्मतुष्टि इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

'धर्म के प्रकार' नामक चतुर्थ अध्याय में सामान्य धर्म, विशेष धर्म (वर्ण धर्म–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) आश्रम धर्म (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास), शिष्य, गुरु धर्म, नारी धर्म, राजधर्म, राष्ट्र धर्म, आपद्धर्म, और युग धर्म आदि का वर्णन किया है।

'मानवधर्म नाम पंचम अध्याय में धर्म की आवश्यकता, मानवमात्र के करणीय तथा अकरणीय कर्म, मानवमात्र का व्यवहार, धर्म की महत्ता आदि का वर्णन किया है।

मैं सर्वप्रथम प्रभु आशुतोष और देवी भगवती का धन्यवाद करता हूँ जिनकी कृपा से मैं इस शोधकार्य को सम्पूर्ण करने में समर्थ रहा हूँ। मैं परम पूजनीय माता–पिता जी, भाई–बहनों और मित्रजनों का भी धन्यवाद करता हूँ, जिनके स्नेहपूर्ण व्यवहार से मैं इस शोधकार्य को पूर्ण कर पाया हूँ।

मैं अपने निर्देशक अर्थात् गुरु डॉ० जगीर सिंह जी का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ, जो समय–समय पर इस शोधकार्य को पूर्ण करने में मेरे सहायक हुये तथा मुझे प्रेरणा देकर इस शोधकार्य को चरम सीमा तक पहुँचाने में मेरी सहायता की।

मैं अपने विभाग के अध्यक्ष डॉ० केदार नाथ जी तथा अपने अन्य गुरूजनों में डॉ० रमणीका जलाली जी, डॉ० शारदा गुप्ता जी, डॉ० जगीर सिंह जी, डॉ० सुषमा गुप्ता जी, डॉ० राम बहादुर शुक्ला जी का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

मैं संस्कृत विभाग की पुस्तकालय अध्यक्षा श्रीमति विजया कौल तथा श्री अशोक कुमार जी का भी धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने उचित समय पर मुझे पुस्तकें प्रदान की। मैं रघुनाथ पुस्तकालय के कार्यकर्ताओं का भी धन्यवाद करता हूँ और अपने पूजनीय गुरु स्वगीर्य पं० जगन्नाथ शर्मा जी का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने इस देववाणी संस्कृत के प्रति मेरी रुचि बनाई और इस अपार सागर में ज्ञान प्राप्ति हेतु मुझे समस्त भाषाओं की जननी देववाणी की ओर अग्रसर किया, जबकि वे आज इस संसार में नहीं हैं। परन्तु फिर भी उन्हीं की कृपा से आज मैं अपने इस शोधकार्य को सम्पूर्ण कर रहा हूँ।

शोधकार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मैंने जिन ग्रन्थों की सामग्री का प्रयोग किया है उन ग्रन्थों के लेखकों का भी मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

मैं संगणक (कम्प्युटर) लिपिक श्री अशोक गुप्ता जी का भी धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने उचित समय पर मेरे शोधकार्य की लिपि को टंकित किया।

अतः अन्त में अपने आराध्य शिवशक्ति और गुरु डॉ० जगीर सिंह जी को कोटि–कोटि प्रणाम करता हूँ, जिनकी अपार कृपा से मैं आज इस शोधकार्य को पूर्ण कर रहा हूँ।

शोधच्छात्र
Joginder Kumar
जोगिन्द्र कुमार

प्रथम अध्याय
धर्म का स्वरूप

प्रथम अध्याय

(क) धर्म का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा अनुसार धृ=धारणे धातु से 'अर्तिस्तुसु--' उणादि सूत्रद्वारा 'मन्' प्रत्यय होने पर बनता है। धृ का अर्थ है – धारण करना, स्वीकार करना, पोषण इत्यादि। संस्कृत में इसे धर्मन् भी कहा है। धर्मन् का धर्म के सम्बन्ध में नियम, धार्मिक विधि आदि अर्थ भी होता है। ऐतरेय ब्राह्मण अनुसार धर्म का अभिप्राय है– कर्त्तव्य का सम्पूर्ण समुच्चय, छांदोग्य उपनिषद् अनुसार यज्ञ, अध्ययन और दान धर्म की इन तीनों शाखाओं का समावेश है। संस्कृत में धर्म शब्द की व्याख्या 'धारयति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा' ऐसे की जाती है अर्थात् जो लोकों को धारण करता है, अथवा जो पुण्यात्माओं द्वारा धारण किया जाता है, वही धर्म है।

ऋग्वेद में 'धर्म' शब्द लगभग 56 बार आया है। धर्म शब्द का कई स्थानों में 'विशेषण', कहीं 'नाम' और कहीं 'पोषण करना', कहीं 'नैतिक नियम', कहीं 'आचार' कहीं 'प्राचीन नीति–नियम' अर्थ में प्रयोग हुआ है। महाभारत अनुसार जिस शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि क्रिया 'धृत'

(रक्षित) हो रही है, वही धर्म शब्द का अर्थ है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् अनुसार सत्य बोलना, धर्मानुसार आचरण करना धर्म शब्द का अर्थ है।[2] मनु स्मृति में धर्म शब्द का अर्थ 'वर्णाश्रमविहित कर्त्तव्य है।[3] महर्षि जैमिनिप्रणीत पूर्वमीमांसा में धर्म के विषय में कहा है कि उपदेश से, आज्ञा से किंवा विधि से ज्ञात होने वाला श्रेयस्कर अर्थ 'धर्म' है।[4]

(ख) धर्म की परिभाषा

'धर्म' सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा है और धर्म पर ही सारा संसार टिका है। धर्मात्मा सब का आश्रय है। धर्मात्मा पुरुष के पास सभी लोग आश्रय या सहायता के लिए जाते हैं। धर्म के आचरण से पाप नष्ट हो जाते हैं। धर्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि मर्मज्ञ मनीषी धर्म को सर्वोपरि मानते हैं।[5] वसिष्ठ स्मृति में बताया गया है कि श्रुति (वेद) और स्मृति ने जो कहा है, वही धर्म है। जहां श्रुति–स्मृति में प्रमाणस्वरूप कोई वचन न मिले, ऐसी स्थिति में शिष्टमहापुरुष जैसा आचरण करते हैं, अथवा जैसा व्यवहार करते हैं, जो कर्म करते हैं, वही

---

1. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
   यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः। म०मा०,शा०प०, 109/11
2. सत्यंवद् धर्मं चर तै० उप, 1/11
3. भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनु पूर्वशः।
   अन्तर प्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि।। म० स्मृ०, ½
4. चोदना लक्षणो ऽर्थो धर्मः। पू० मी० 1/12
5. 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
   धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति'।।
   ध० शा० अं० पृ० 112

धर्माचरण के रूप में प्रमाण मानने योग्य होता है। अर्थात् शिष्टपुरुष जैसा करें, उसी को प्रमाण मानकर आचरण करना चाहिये।[1] मनु स्मृति में कहा गया है कि 'समग्र वेद' उन्हें (वेदों को) जानने वालों (मनु आदि) की स्मृति और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकार के शील या राग–द्वेष–शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्नता (जहां धर्मशास्त्रों में अनेक पक्ष कहे गये हैं, वहां जिस पक्षवाले विधान को स्वीकार करके अपना मन प्रसन्न हो)– ये सब धर्म के मूल हैं।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि वेद, स्मृति, धर्मसूत्रादि, शिष्टजनों के किंवा सज्जनों के आचार (आचरण) और उनके उपदेश के अनुसार तथा अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार, आत्मसंतोष के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपना आचरण रखना चाहिये।[3] याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'होम–हवन, सदाचार, इन्द्रियदमन, अहिंसा, दान, वेद–शास्त्र का अध्ययन और शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान – इन सब में 'योग' द्वारा 'आत्मदर्शन' (स्वरूपानुभूति) करना ही सर्वोत्तम 'धर्म' है।[4] दक्षस्मृति में बताया गया है कि सभी प्राणी सुख की इच्छा रखते हैं। और वह सुख 'धर्म' से उत्पन्न होता है अतः

---

1. 'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः'
   'तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्' वसि० स्मृ०, 1/3–4
2. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीलेच तद्विदाम्।
   आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। म०स्मृ०, 2/6
3. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
   सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।। या०व०स्मृ०,आ० 117
4. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
   अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। या०व०स्मृ०,आ० 118

समस्त वर्णों को सदैव प्रयत्नपूर्वक 'धर्म' का ही आचरण करना चाहिये'।[1] महाभारत में कहा गया है कि पहला वेदोक्त 'धर्म' है, जो सब से उत्कृष्ट धर्म है, दूसरा है वेदानुकूल स्मृति शास्त्र में वर्णित स्मार्त धर्म और तीसरा है शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित धर्म (शिष्टाचार)– ये तीनो धर्म सनातन हैं।[2] वैदिक वाङ्मय में जगत् के धारण – तत्त्वका नाम धर्म है।[3] तात्पर्य है कि अभ्युदय निःश्रेयस तत्त्व जगत् को धारण करने वाले माने गये हैं। लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष तथा आवागमन के बन्धन से निवृत्तिरूप – मोक्ष ज्ञानादि उपायों की समुपलब्धि अभ्युदय है। अभिप्राय यह है कि 'प्रेय' की उपलब्धि और श्रेय की ओर उन्मुख होना – यही अभ्युदय है। देहेन्द्रियादि अनात्मभावों से विभक्त – गुणमयभावों से अतीत आत्मस्थिति निःश्रेयस् है अतः याग, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया, अलोभ आदि साध्यपदार्थों को जहाँ शास्त्रों ने धर्म कहा है, यज्ञादि को साध्य धर्म माना गया है,[4] वहाँ आत्मादि सिद्ध तत्त्वों को भी धर्म कहा है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार दुर्ग–दुर्गम स्थान अर्थात् ऊँचाईपर बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न प्रदेशों में फैल कर नष्ट हो जाता

---

1. सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुदभवम्।
   तस्माद् धर्मः सदाकार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः।। द०स्मृ, 3/24
2. वेदोक्तः परमोधर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।
   शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः।। म०भा, अनु०प० 141/65
3. 'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः' म० भा०, क० प०, 69/58
4. इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
   अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।। म०भा०, क०प०, 69/58

है उसी प्रकार धर्म को पृथक् (प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न) देखने वाला मनुष्य उन्हीं शरीर भेदों का अनुसरण करने वालों की ओर ही जाता है, अर्थात् बारम्बार भिन्न–भिन्न शरीरों को ही प्राप्त होता है।[1] कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो धन से मोहित हो रहा है, एसे प्रमादी, मूढ, अविवेकी पुरुष को परलोक में श्रद्धा नहीं होती। ''यह लोक ही है, परलोक नहीं है'' – इस प्रकार मानने वाला वह मूढ़ मृत्यु के वश में बार–बार पड़ता है, अर्थात् पुनः पुनः जन्म–मृत्यु को प्राप्त होता है।[2]

नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न ही मरता है। यह न तो किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है, और न स्वतः ही कुछ वना है। अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एक रस रहने वाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धि से रहित है शरीर के नाश होने पर भी इस का नाश नहीं होता है।[3] पूर्व मीमांसा के प्रणेता महर्षि जैमिनि ने कहा है कि जिस से अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो, वह धर्म है। यह लक्षण साधन और सिद्ध दोनों धर्मो में चरितार्थ है। वेदान्तवेद्य भगवतत्त्व स्वतः सिद्ध स्वप्रकाश है।

---

1. यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति।। कठ० उप० 2/1/14
2. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वशमाद्यते मे। कठ० उप० 1/2/6
3. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
कठ० उप० 1/2/18

उसी से अन्तः करण के शोधक और भगवतत्त्व के प्रापक, यज्ञादि, शमादि, श्रवणादि और भगवतत्त्व विज्ञानरूप धर्मों की सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण तथा इनके उपायों की सिद्धि भगवतत्त्व से होने के कारण भगवत्तत्व धर्म है। परमात्म से अभ्युदय और निःश्रेयस–प्रतिपादक शास्त्रों तथा साधनों की सिद्धि (अभिव्यक्ति और स्थिति) होने से परमात्मा धर्म है[1] परमात्मा से अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के विषय में गीता में कहा गया है कि जिस परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्वजगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।[2] गीता के दशम अध्याय में भगवान् ने कहा है कि उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिसे वे मेरे को ही प्राप्त हों।[3] दुर्गासप्तशती में कहा गया है कि स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली नारायणी देवी आप को नमस्कार है।[4] आप ही स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करने वाली हो।[5] तुम्हीं प्रसन्न होने

---

1. 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' पू० मी० 1/2
2. यतः प्रवृत्ति भूतानां येन सर्वमिदंततम।
   स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। भ० गी०, 18/46
3. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम।
   ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। भ० गी०, 10/10
4. 'स्वर्गापवर्गदे देवि' दु० स०, 11/8
5. 'स्वर्गमुक्ति प्रदायिनी' दु० स०, 11/7

पर इस पृथ्वी पर मोक्ष की प्राप्ति कराती हो।[1] परमात्मा से अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि में आदि वचन प्रमाण हैं। परमात्मा से वेदादि साधनों की अभिव्यक्ति और सिद्धि में निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं– ऋषि, पितर, देवता, पञ्चमहाभूत, धातुएँ और स्थावर – जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत् – ये सब नारायण से ही उत्पन्न हुए हैं। योग, ज्ञान, सांख्य, विद्याएँ शिल्प, आदि कर्म वेद, शास्त्र और विज्ञान ये सब विष्णु से उत्पन्न हुए हैं।[2] श्री भागवतपुराण में कहा गया है कि उस नारायण भगवान् की कृपा से द्रव्य कर्म, काल, स्वभाव और जीवादि की सत्ता है। उनके उपेक्षा कर देने पर और किसी का अस्तित्त्व नहीं रहता।[3] महाभारत के अनुशासनपर्व में बताया गया है कि दिशायें पृथ्वी और महासागर–ये सब महात्मा वासुदेव के प्रभाव से धारण किये गये हैं। देवता, दैत्य, गन्धर्व, यज्ञ, सर्प और राक्षस सहित यह स्थावर जङ्गमरूप सम्पूर्ण जगत् श्री कृष्ण के अधीन रह कर यथा योग्य बरत रहे हैं।[4]

---

1. 'त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्ति हेतुः', दु० स०, 11/5
2. ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
   जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्।।
   योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्मच।
   वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात्।।
   म० भा०, अनु० प०,149/138,139
3. द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एवच।
   यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षम।। भा० पु०2/10/12
4. द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा रवं दिशो भूर्महोदधिः।
   वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः।।
   ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
   जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णास्य सचराचरम्।।
   म० भा०, अनु० प०,149/134,135

अभिप्राय यह है कि ग्रह, नक्षत्र, पञ्चभूत और स्थावर जङ्गमात्मक प्रपञ्च के धारक होने से भगवान् वासुदेव को धर्म मानना उपयुक्त ही है। इस लोक में जीवों के लिए यही सब से बड़ा कर्त्तव्य, परमधर्म है कि वे नाम कीर्तनादि उपायों से भगवान् श्री हरि के चरणों में भक्तिभाव प्राप्त कर लें।[1] जिस भक्ति से अन्तः करण भलीभाँति प्रसन्नता (निर्मलता) को प्राप्त हो, वह अहैतुकी है। जो फलानुसंधानरूप हेतु के बिना ही अनुष्ठित हो, विघ्नों से अनभिभूत हो, जिस से अच्युत भगवान् में विमल भक्ति हो, वही पुरुष के लिए परमधर्म है। उस से पुरुष का परम श्रेय सम्भव है।[2] यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्गुण निराकार निर्धर्मक परब्रह्म निज मायाशक्ति के योग से ही वेदादिक अभिव्यंजक होते हैं वेद यज्ञादि के परम तात्पर्य जहाँ भगवान् वासुदेव हैं, वहाँ वेद, यज्ञादिरूप भी वासुदेव हैं, काल, देश, यज्ञादि क्रिया, कर्ता, करण, यज्ञादिरूप अपूर्वसंज्ञक कर्म, आगम (वेद, मन्त्र) शाकल्यादि द्रव्य और स्वर्गादि फल इन नौ रूपों में माया के द्वारा भगवान् श्री हरि ही अभिहित निरूपित होते हैं।[3] महाभारत में कहा गया है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति को ही 'धर्म' कहते हैं। मनीषी पुरुषों का कथन है कि समस्त

---

1. एतावनेव लोकेऽस्मिन पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणदिभिः।। भा० पु० 6/3/32
2. स वै पुंसां पुरो धर्मो सम्प्रसीदति।। भा० पु० 1/2/6
3. कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्य फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः।। भा० पु० 12/11/31

प्राणियों के लिए मन द्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है। अतः मन से सम्पूर्ण जीवों का हित सोचते रहना चाहिये। जड़–चेतन किसी भी पदार्थ में जिस शक्ति के रहने से पदार्थ की सत्ता होती है और न रहने से पदार्थ की सत्ता नहीं रहती उस का अभाव हो जाता है, उस शक्ति का नाम भी धर्म होता है।[1]

भगवान् ने गीता में कहा है कि जो अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरे को ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया का उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं।[2] महाभारत का कथन है कि प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिस से अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हैं, वही धर्म है ऐसा धर्मवेताओं का निश्चय है।[3] गीता में श्री भगवान् कृष्ण कहते हैं कि हे पार्थ यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशरूप, दिव्य पुरुष को

---

1. मनसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वेषुभूतेषु मनसशिवमाचरेत्।। म० भा०, शा० प०, 103/31
2. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव मे प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। भ० गी, 7/14
3. प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभसंयुक्तं सः धर्म इति निश्चयः।। म०भा०, शा०प०,109/10

अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होता है।[1] श्रुति कहती है कि यह अक्षर (ओंकार) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है, इसी अक्षर को जान कर मनुष्य जो कुछ चाहता है,उस को वही मिल जाता है। यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सब का अन्तिम आश्रय है, इस आलम्बन को भली-भाँति जान कर साधक ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है कि प्रकृति तो विनाशशील है, इस को भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है, इन विनाशशील जड़-तत्त्व और अविनाशी चेतन आत्मा दोनों को एक ईश्वर ने अपने शासन में रखा है। इस प्रकार जान कर उस परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से, मन को उस में लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से अन्त में साधक उसी को प्राप्त हो जाता है, फिर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है। तथा उस परमदेव परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है, क्योंकि क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जन्म-मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वह शरीर का नाश होने पर तीसरे लोक (स्वर्ग) तक के समस्त ऐश्वर्य का त्याग कर के सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो

---

1. अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। भ० गी, 8/8
2. एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। कठ उप 2/16-17

जाता है।[1] मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि वह निष्काम भाव वाला पुरुष इस परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्मधामरूप परमेश्वर को जान लेता है, जिस में सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है, जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुष की उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत् को अतिक्रमण कर जाते हैं।[2] महर्षि पतञ्जलि जी ने बताया है कि ईश्वर की भक्ति से भी मन समाधिस्थ हो जाता है।[3] उस परमात्मा के नाम का जप और उस के अर्थ की भावना अर्थात् स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये।[4] महाभारत में बतलाया गया है कि जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुष की सदा भक्तिपूर्वक पूजा और ध्यान करता है, वह साधक उस अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वलोक महेश्वर, अखिलाधिपति परमात्मा की नित्य स्तुति करता हुआ सम्पूर्ण दुःखों से पार हो जाता है।[5] 'जो जगत् की उत्पत्ति और विनाश करने वाले और समस्त संसार के

---

1. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।
श्वे० उप०, 1/10-11

2. स वेदैतत्परम ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः।।
मुण्ड० उप०, 3/2/1

3. ईश्वर प्रणिधानाद् वा। प० यो० सू० 1/23
4. तज्जपस्तदर्थभावनम्। प० यो० सू० 1/28
5. तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यान् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च।।
अनादिनिधनं विष्णु सर्व लोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगों भवेत्।। म०भा०, अनु०पु०,149/5-6

एक मात्र अधीश्वर उस अजन्मा कमललोचन परमदेव का निरन्तर भजन करते हैं, पराभाव को नहीं प्राप्त होते'।[1] विष्णु पुराण में ऋषि पुलस्त्य ने कहा है कि 'जो पर निर्गुण ब्रह्म और अपर सगुण ब्रह्म है, वही परम धाम है, ऐसे उस हरि की आराधना कर के मनुष्य अति दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।'[2] महात्मा और्व ने भी बतलाया है कि भगवान् विष्णु की आराधना करने पर मनुष्य भूमण्डल सम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्ग से भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाण पद भी प्राप्त कर लेता है।'[3] भागवतकार कहते है कि 'किसी भी उदार बुद्धि वाले मनुष्य को चाहे वह किसी भी प्रकार की कामना वाला हो, चाहे निष्काम हो और चाहे मोक्ष की कामना वाला हो-तीव्र भक्तियोग द्वारा परम पुरुष परमेश्वर का आदरपूर्वक भजन-स्मरण करना चाहिये।'[4] भगवान् वासुदेव में भक्ति कर के किया हुआ साधन शीघ्र ही वैराग्य और उस ज्ञान को उत्पन्न कर देता है जो कि परब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाला है।'[5] उत्तम कीर्तिवाले भगवान् वासुदेव के नाम का कीर्तन - चाहे वह ज्ञान पूर्वक किया गया हो और चाहे अनजान में

---

1. विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्।। म०भा०, अनु०पु०,149/5-6
2. परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
त्माराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्।। वि० पु० 1/11/46
3. भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गे रम्यं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्।। भा० पु० 3/8/6
4. अकामः सर्व कामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजते पुरुषं परम्।। भा० पु० 2/3/10
5. वासुदेव भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्।। भा० पु० 3/32/23

किया गया हो– मनुष्य के पापों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे कि अग्नि ईंधन को नष्ट कर देती है।[1] गीता कहती है कि 'हे पार्थ' जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दन परमात्मा से यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्ति से ही प्राप्त हाने योग्य है[2] 'तथा जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भलीप्रकार वश में कर के मन–बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दन ब्रह्म को निरन्तर एकी भाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सब में समान भाव वाले योगी मुझ को ही प्राप्त होते हैं।[3] अध्यात्मरामायण में सुतीक्ष्ण ऋषि से भगवान् श्री राम कहते हैं कि 'इस लोक में जो मेरे मन्त्र के उपासक हैं, जो मेरे शरणागत हैं, जो किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते और जिन्हें मेरे सिवाय कोई अन्य गति नहीं, ऐसे भक्तों को मैं नित्य दर्शन देता हूँ।'[4] पञ्चवटी में लक्ष्मण के

---

1. अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तरलोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः।। भा० पु० 6/2/18
2. पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।। भ० गी, 8/22
3. ये त्वक्षरमनिर्दिश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। भ० गी, 12/3-4
4. मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः।।
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्। अ० रा०, अ०का,2/36-37

पूछने पर भगवान् ने अति गोपनीय ज्ञान–विज्ञान का वर्णन करते हुए अन्त में कहा है कि 'इस लिये मेरी भक्ति से युक्त पुरुष को शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान तथा वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, जिस से वह मुक्ति को पा लेता है।'[1] अध्यात्मरामायण में भगवान् ने शबरी के प्रति कहा है कि 'भक्ति के उत्पन्न होने मात्र से ही तत्काल मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है उस की उसी जन्म में निःसन्देह मुक्ति हो जाती है।'[2] श्री हनुमान् जी ने रावण के प्रति कहा है कि 'भगवान् विष्णु की भक्ति से बुद्धि निर्मल, आत्मज्ञान से विशुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव होता है और इस प्रकार सम्यक् ज्ञान हो जाने से मनुष्य परमपद को प्राप्त करता है। इस लिये तुम प्रकृति से परे, पुराण पुरुष, सर्वव्यापक, आदि नारायण, लक्ष्मीपति श्री हरि भगवान् का भजन करो अपने हृदय में स्थित शत्रुभावरूप मूर्खता को छोड़ दो और शरणागत वत्सल श्री राम का भजन करो।'[3] श्री रामचरितमानस में भगवान् श्री राम ने शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहा कि जो मनुष्य धर्मस्वरूप मुझ को प्राप्त करना

---

1. अतोमद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञान मेव च।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात्।। अ० रा०, अ०का, 4/51
2. भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तस्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि।। अ० रा०, अ०का, 10/29
3. विष्णुर्हि भक्तिः सुविशोधनं धियस्तो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम्।
शुद्धतस्वानुभवो भवेत्ततः सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत्।।
ओ भजस्वाद्यहरिं रमापतिं रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम्।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।।
अ० रा०, सु०का, 4/22–33

चाहता है, उसे मेरी अनन्यभक्ति स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि जाति-पाँति, कुल धर्म और मान बड़ाई से सम्पन्न होने पर भी जो भक्ति विहीन है, वह बिना जल के बादल की तरह है।[1] वाल्मीकीय रामायण में भगवान् श्री राम चन्द्र जीने विभीषण के अपनी शरण में आने पर जो वचन कहे, वे सदा ध्यान रखने योग्य हैं। वे कहते हैं – कि 'मेरा यह व्रत है कि जो एक वार शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कह कर मुझ से रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ।'[2]

श्री भागवतकार कहते है कि जिस से इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, जो अन्वय और व्यतिरेक-दोनों प्रकार से सत्य है अर्थात् जिस की सत्ता से ही जगत् की सत्ता है, परन्तु जगत् के न रहने पर भी जिस का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है, जो जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त और सर्वज्ञ है तथा अखण्ड, अबाध ज्ञानसम्पन्न होने के कारण जो स्वयंप्रकाश है, सर्गके आदि में जिस ने अपने संकल्प से ही ब्रह्मा के हृदय में उन वेदों का ज्ञान प्रदान किया है, जिन के सम्बन्ध में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मोहित हो जाते हैं, जिस के सत्य स्वरूप में

---

1. कह रघुपति सुनि भामिनि वाता। मानऊं एक भगति कर नाता।।
   जति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुः चतुराई।।
   भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।
   रा० च० मा०, 3/35/4-6

2. सुकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
   अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम्।। वा० रा०, युद्ध० 117/31

यह त्रिगुणमयी सृष्टि उस की सत्ता से सत्य है, परन्तु भिन्न–भिन्न नाम रूपों की दृष्टि से असत्य भी है– जैसे तेजोमय सूर्य की किरणों से काँच आदि मृत्तिका के विकारों में जल की और जल में स्थल की भ्राँति हो जाया करती है, जिस के अपने ज्ञानमय प्रकाश से माया छल कपट आदि सदा ही निरस्त रहते हैं, उस परम सत्यस्वरूप परमेश्वर का हम ध्यान करते हैं।[1]

मुण्डकोपनिषद् में सत्य धर्म की महिमा बतलाते हुए महर्षि अङ्गिरा कहते हैं कि सदा से सत्य की विजय होती आयी है, झूठ की नहीं, क्योंकि परमात्मा भी सत्यस्वरूप है, अतः उन की प्राप्ति के लिये मनुष्य को सत्यरूपी धर्मपथ का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। परमात्मा तक पहुँचने का जो देवयान नामक मार्ग है, वह सत्य से ही प्रतिष्ठित है असत्य के मार्ग से परमात्मा को कोई प्राप्त नहीं कर सकता। असत्य–भाषण, दम्भ, कपट आदि आचरण पतन के मार्ग हैं।[2] उत्तराङ्गिरसस्मृति में कहा गया है कि सत्य की मर्यादा में स्थिर रहने से एवं सन्मार्ग का आश्रय ग्रहण करने से ही राजा प्रतिष्ठित रहता है। सत्य (नियम) के पालन से सूर्य प्रकाशित रहता है, सत्य के बल पर ही अग्नि प्रज्वलित होती है, तीनों लोक भी सत्य की मर्यादा

---

1. जन्मधस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदाय आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूर्यः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽभृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि भा०,पु० 1/1/1
2. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था वितो देवयानः। मुण्ड० उप० 3/1/6

में ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही परम गति है। व्यक्ति यदि सत्य भाषण करता है, तो वह निश्चय ही निरन्तर सुख प्राप्त करता है और यदि वह असत्य का आश्रय लेता है, तो कष्ट पाता है। पापी व्यक्ति यदि पाप छिपा कर असत्य बोलता है तो वह किसी भी प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता है। शुद्ध की इच्छा चाहने वाले मानवों को चाहिये कि वे आदि, मध्य तथा अन्त – सभी अवस्थाओं में सत्य ही बोलें, असत्य कभी भी नहीं बोलना चाहिये।[1] पद्म पुराण में बताया गया है कि सत्य से पवित्र हुई वाणी बोले तथा मन से जो पवित्र जान पड़े उसी का आचरण करना चाहिये।[2] वाल्मीकि रामायण में भगवान् श्री राम लक्ष्मण जी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं कि संसार में धर्म ही सब से श्रेष्ठ है। सत्य की भी धर्म में ही प्रतिष्ठा है। मेरे पिता का यह वचन भी धर्म के आश्रित होने से अत्युत्तम है। वीर लक्ष्मण! धर्मात्मा पुरुष को माता–पिता अथवा ब्राह्मण के वचनों के पालन करने की प्रतिज्ञा कर के पुनः उसे प्रमाद से छोड़ देना, मिथ्या करना कदापि उचित नहीं है। अतः तुम भी धर्म का आश्रय लो, कठोरता छोड़ दो और मेरे विचारों के अनुसार अपने विचार बनाने का प्रयत्न

---

1. यदि चेदूक्ष्यते सत्यं नियतं प्राप्यते सुखम्
   यद्गृहीतो ह्यसत्येन न च शुध्येत कर्हिचित्।। ध० शा० अं० पृ० 405–406
2. सत्यपूतां वदेद् वाणीं मनः पूतं समाचरेत्।। पद्मपु०, स्वर्ग 59/19

करो।[1] रामचरितमानस में भगवान् श्रीराम धर्ममय रथ की विशेषता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि शौर्य एवं धीरज उस धर्ममय रथ के चक्के हैं, सत्य तथा सदाचार या सत्य युक्त नम्रता उसकी ध्वजा और पताका है। शूरता में सत्य की अनन्त आवश्यकता है। सत्य के बिना तो शूरता होगी ही नहीं। क्योंकि जब रथ धर्ममय है तो उस की ध्वजा सत्य हीन कैसे होगी? 'गोस्वामी श्री तुलसीदास जी का विश्वास है कि 'धरमु न दूसर सत्य समाना।' जब सत्य से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है तो धर्ममय रथ की ध्वजा और पताका भी सत्ययुक्त होनी ही चाहिये।[2] महाभारत में धर्म की व्यापक तथा विशद कल्पना की गयी है। इस विशाल विश्व के विभिन्न अवयवों को एक सूत्र में, एक श्रृंखला में बाँधने वाला जो सार्वभौम तत्त्व है, वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करने वाला तत्त्व दूसरा नहीं है। यदि धर्म का अस्तित्व इस जगत् में न होता, तो वह जगत् कब का विश्रृंखल होकर छिन्न भिन्न हो गया होता। युधिष्ठिर के धर्म विषयक प्रश्न के उत्तर में भीष्मपितामह सर्वप्रथम धर्म की महनीयता तथा व्यापकता का संकेत देते हुए कहते हैं– कि सब आश्रमों में

---

1. धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम।
   धर्म संश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्।।
   संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
   न कर्तव्यं वृथावीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता।।
   धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्।।
   वा० रा० आ० का० 21/41–42,44
2. सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
   सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।। रा० च० मा०, 6/80/5

वेद के द्वारा धर्म का विधान किया गया है, जो वस्तुतः अदृष्ट फल देने वाला होता है। सद्वस्तु के अवलोकन (तपः) का फल मरण से पूर्व ही प्राणी को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान–दृष्ट फल होता है। धर्म के द्वार बहुत से हैं, जिन के द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती धर्म का कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता। अतः धर्म का आचरण सर्वथा श्लाघनीय है।[1] महाभारत में बताया गया है कि मानव जीवन का रहस्य धर्म के आचरण में है जैसे सकाम भाव से सम्पादित होने पर ऐहिक फलों को देता है और निष्काम भाव से आदृत होने पर आमुष्मिक फल–मोक्ष की उपलब्धि कराता है। फलतः महान् फल को देने वाले, परन्तु धर्म से विहीन, कर्म का सम्पादन मेधावी पुरुष कभी न करें, क्योंकि ऐसा आचरण कथमपि हित—कारक नहीं माना जा सकता है।[2] जो सभासद् अधर्म को देखते हुए भी चुप–चाप बैठे रहते हैं और अन्याय या अधर्म का प्रतिकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी भाँति तोड़ ड़ालता है, जिस प्रकार नदी के किनारों पर उगने वाले पेडों को पवन अपने वेग से तोड़ कर गिरा डालती है।[3] बुद्धिमान पुरुष ज्ञानवान्

---

1. सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
   बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया।। म०, भा, शा०, प०, 174/2
2. धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
   न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते।। म० भा०, शा० प, 203/8
3. धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूल जान्।
   ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते।। म०भा०, उद्यो०प०, 95/50/51

होने पर भी बिना पूछे किसी को कोई उपदेश न करे। अन्यायपूर्वक पूछने पर भी किसी को प्रश्न का उत्तर न दे, जड़ की भाँति चुपचाप बैठा रहे। मनुष्य को सदा धर्म में लगे रहने वाले साधु–महात्माओं तथा स्वधर्मपरायण उदार पुरुषों के समीप निवास करने की इच्छा रखनी चाहिये।[1] महाभारतीय कथा का अभिधेयार्थ इसी धर्म विजय की अभिव्यञ्जना में है महाभारत धर्म का केवल शाब्दिक प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युत् वह अपने कार्यों से नाना घटनाओं से पाण्डवों के विषय स्थिति में निष्पादित कार्यकलापों से धर्म का व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है, इस के विषय में मतद्वैविध्य नहीं हो सकता। इस लिए यह ग्रन्थ, रत्न अपनी सुभग शिक्षा धर्म के चयन के निमित्त देता है, क्यों कि धर्म ही परलोक जाने वाले प्राणी का एकमात्र बन्धु है अर्थ तथा भार्या बन्धु के रूप में सामान्यतः प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परन्तु निपुण व्यक्तियों के द्वारा सेवित होने पर भी ये दोनों न तो आप्तभाव–मित्रभाव को ही प्राप्त करते हैं और न स्थिरता ही धारण करते हैं। विपरीत इस के, धर्म निश्चयेन हमारा आप्तपुरुष है तथा सर्वदा स्थायी नित्य–तत्त्व है। फलतः धर्म की उपासना ही कल्याणकारी मानव का एक मात्र कर्त्तव्य

---

1. नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत्।।
ततो वासं परीक्षेत धर्मनियेषु।
मनुष्येषु पदान्येषु स्वधर्मनिरतेषु च।। म०, भा, शा०, प०, 287/35-36

होना चाहिये, महाभारत का यही निर्भ्रान्त और अनिवार्य उपदेश है।[1] श्रुति कहती है कि अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़–चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वर से व्याप्त है।[2]

श्री विष्णुपुराण में कहा गया है कि वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप है, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप है, वे ही सब के स्वामी, सब के साक्षी और सब कुछ जानने वाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान् को परमेश्वर कहते हैं।[3] गीता में कहा गया है कि हे अर्जुन! शरीररूपी यन्त्र में आरुढ़ सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराते हुए सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं।[4] मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरुप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन कर के अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब–जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब –तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकाररूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।

---

1. धर्मे मतिर्भवतु व सततोत्थितानां
   स ह्येक एव परलोक गतस्य बन्धुः।
   अर्थाः स्त्रियश्च निपुणेरपि सेव्यमाना
   नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्।। म०,भा०,आ०,प०, 2/391
2. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याँ जगत। यजु० वे,60/9
3. स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तिस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
   सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च समस्त शक्तिः परमेश्वराख्यः।।
   वि० पु० 6/5/86
4. ईश्वरः सर्वभूतानाँ हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
   भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया।। भ० गी, 18/61

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और धर्म की अच्छी
तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग–युग में प्रकट हुआ
करता हूँ।[1] भागवतपुराण में भगवान् श्री कृष्ण माता देवकी
से कहते हैं कि 'संसार में शील, उदारता आदि सद्‌गुणों में
अपने सदृश दूसरे को न देखकर मैं स्वयं ही आप दोनों
का पुत्र होकर पहले 'पृश्निगर्भ' के नाम से विख्यात हुआ
था। उस के बाद जब आप दोनों कश्यप और अदिति के
रूप में प्रकट हुए, तब मैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' के नाम
से विख्यात हुआ, उस समय मेरा शरीर छोटा होने के
कारण मेरा दूसरा नाम 'वामन' हुआ था। उस तीसरे कल्प
में अब मैं ही उसी शरीर से आप दोनों के यहां पुनः
उत्पन्न हुआ हूँ। हे सति! मैंने यह आप से सत्य कहा है'।[2]

भागवतकार कहते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी अपने पेट
में से मुख द्वारा तन्तुओं को निकाल कर उन को फैलाती
है और उस के साथ विहार कर के उसे पुनः निगल जाती
है, उसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा भी जगत् की रचना कर

1. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। भ० गी, 4/6-8

2. अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्य गुणैः समम्
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः।।
तमोर्वा ------ व्याहृतं सति।। भा०, पु० 10/3/41-43

के तथा उसमें विहार कर के पुनः अपने में उसे लीन कर लेते हैं।[1]

(ग) धर्म के लक्षण

धर्माचार्य मनु ने जीवन में दस पदार्थों के धारण को 'धर्म' कहा है। जो इस प्रकार हैं। धैर्य, सहनशीलता, काम एवं लोभ पर संयम, चोरी न करना, कायिक, वाचिक एवं मानसिक पवित्रता, इन्द्रियों पर अधिकार, ज्ञान अध्ययनशीलता, सत्य का आचरण और क्रोध का अभाव – ये दस धर्म के लक्षण हैं[2]

छोटा – सा दीखने वाला यह श्लोक है इस का अर्थ कितना गम्भीर है, उस का अनुमान प्रत्येक लक्षण के सम्बन्ध में किये गये निर्देशों से प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिये।

(1) धृति :– 'धृति' के विषय में अन्य शास्त्रों के उद्‌गार स्मरणीय हैं। भगवान श्री कृष्ण ने धृति की गणना अपनी विभूतियों में की है। श्रीमद्‌भागवत में इस का लक्षण बताया गया है– 'जिह्वोपस्थजयो धृतिः।' अर्थात् जीभ एवं जननेन्द्रिय पर जो संयम है, वही 'धृति' कहलाता है। धृति को धारण करने वाला 'धीर' कहलाता है। इस धीर पुरुष

---

1. यतोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः।। भा०, पु०, 11/9/21
2. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। म० स्मृ०, 6/92

के विषय में महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'कुमारसम्भवम्' में कहा है कि मन में विकार उत्पन्न होने के कारण मौजूद होने पर भी जिस का मन या चित्त विकृत नहीं होता, वही 'धीर' है। इस धैर्य या धृति की साधना कठिन है, पर प्रयत्नसाध्य अवश्य है।[1]

(2) **क्षमा** :- महाभारत में महामुनि कश्यप ने क्षमा के विषय में कहा है कि क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही शास्त्र है। इस प्रकार क्षमा के स्वरूप को जानने वाला सब को क्षमा ही करता है।[2] तेजस्वियों का तेज, तपस्वियों का ब्रह्म, सत्यवादियों का सत्य, याज्ञिकों का यज्ञ तथा मन को वश में करने वालों की शान्ति भी क्षमा ही है।[3] जिस क्षमा के आधार पर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमा को मैं कैसे त्याग सकता हूँ।[4] तपस्वियों को, ज्ञानियों को, कर्मियों को जो गति मिलती है, उस से भी उत्तम गति क्षमावान्, पुरुषों को मिलती है, जो सब प्रकार से क्षमा को धारण किये होते हैं, उन को ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

---

1. विकार हेतौ सति विक्रियन्ते
   येषां न चेतांसि ते एव धीराः। कु० सं०, 1/59
2. क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
   य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति।। म० भा०, व० प, 29/36
3. क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
   क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः।। म० भा०, व० प, 29/40
4. तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्।
   यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः।। म०भा०, व०प, 29/36

अतः सब को निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये।[1] जैसे कि कहा गया है– क्षमा वीरस्य भूषणम्। अर्थात् क्षमावीरों के लिये अलंकाररूप है। शक्ति होने पर भी जो मनुष्य अपने दिमाग पर प्रभुत्व जमाये रहते हैं, वे ही यथार्थ रीति से क्षमावान हैं।

(३) **दम** :– इस लोक में इन्द्रियों के ऊपर प्राप्त हुई विजय को 'दम' कहते हैं। हे उत्तम ब्राह्मणों। जो मनुष्य दम युक्त नहीं है, उस की कोई क्रिया सफल नहीं होती। इन्द्रियां और उनके विषय के बीच जो सम्बन्ध है, वह अविभेद्य है किन्तु इस लिए इन्द्रियां यथेच्छ आचार करने लगें, यह परिस्थिति तो कभी क्षम्य नहीं मानी जा सकती है।[2] मनुस्मृति में बताया गया है कि इन्द्रियों के विशेष संग से मनुष्य दोष को प्राप्त होता है, परन्तु इन्द्रियों को काबू में रखने से वही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है।[3] मनु जी कहते हैं कि जो मनुष्य सुन कर,स्पर्शकर, देखकर, खाकर एवं सूंघ कर हर्ष या ग्लानि का अनुभव नहीं करता, वही 'जितेन्द्रिय' कहलाता है। किन्तु यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि बलात् इन्द्रियों को रोक देने से ही लाभ नहीं होता। आवश्यक तो है मनके द्वारा इन्द्रियों

---

1. क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
   यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। म० भा०, व० प, 29/42
2. इन्द्रियाणां जयो लोके दमइत्यभिधीयते।
   नादान्तस्य क्रियाः काश्चिद् भवन्तीह द्विजोत्तमाः।। ध० शा० अं०,पृ० 444
3. इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छति मानवः।
   संनियम्य तु तान्येव सिद्धिं समधिगच्छति।। म० स्म०, 2/93

का निग्रह करना। जो मानव अपनी कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन ही मन विषयों का स्मरण करता है, उस को गीता 'मिथ्याचार' कहती है। यहां हम एक बात स्मरण में रखें– इस संसार में हमारे देहिक जीवन की अपेक्षा हमारा सामाजिक जीवन ही व्यापक दीर्घ कालीन एवं अर्थपूर्ण होता है। अतएव हमें अपनी देहिक वासनाओं को रोक कर अपने सामाजिक जीवन को शुद्ध एवं निष्पाप बनाना चाहिए।[1]

(4) अस्तेय :– नारद स्मृति में कहा गया है कि सुप्त, पागल और असतर्क मनुष्य से विविध उपायों द्वारा छल कर के किसी की चीज को ले लेना चोरी हे।[2] लोहित स्मृति में कहा गया है कि अन्याय के मार्ग से, चोरीसे, महर्धतासे, धनोहर के धन से, बेईमानी से प्राप्त हुआ धन असमीचीन द्रव्य कहलाता है इस द्रव्य से किये गये शुभ कर्म यागादि सभी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।[3] अतएव वेदकाल से हमारे ऋषि–मुनियों ने उपदेश दिया है कि किसी के द्रव्य की लालसा मत रखो।[4] हितोपदेश ग्रन्थ में भी इसी प्रकार कहा गया है कि पराये धन को मिट्टी की ढ़ीलों के समान

---

1. श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्ता ध्रावा च यो नरः।
   न हृण्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।। म० स्मृ०, 2/98
2. उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम्। ध० शा० अ०, पृ०, 444
   सुप्तमत्त प्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः।।
3. तदेतदखिलं द्रव्यमसमीचीनमुच्यते।। ध० शा० अ०, पृ०, 360
4. मागृधः कस्यस्विद्धनम्। ईशा०उप, 1/1

समझो।[1] महाभारत में कहा गया है– प्रजानाथ! मनुष्य – शरीर की आयु सुलभ नहीं है– वह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्मा को नीचे नहीं गिराना चाहिये। मनुष्य को चाहिये कि पुण्यकर्म के अनुष्ठान द्वारा आत्मा के उत्थान के लिये सदा प्रयत्न करता रहे।[2] महर्षि पतञ्जली कहते हैं कि जो मनुष्य धर्म को सिद्ध कर लेता है। उस के पास सब प्रकार के रत्न उपस्थित हो जाते हैं।[3] उपर्युक्त वृत्तियों को हमें अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिये। ताकि हमारा जीवन सर्वश्रेयस्कर बन सके।

(5) शौच या शुचिता अथवा पवित्रता :– इस गुण का एक स्वरूप सामाजिक है और दूसरा केवल वैयक्तिक किन्तु हमें यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि ये दोनों स्वरूप परस्पर के विरोधी नहीं हैं, एक दूसरे के पोषक तथा पूरक अवश्य हैं। मनुष्य अरण्य में भी निवास करता होगा तो भी उसे स्वच्छता अवश्य पसन्द होगी, समाज में रहने पर इस रूचि में वृद्धि हो जाती है। अपना शरीर, आहार, उपयोगी चीजें आदि स्वच्छ और व्यवस्थित हों ऐसा प्रत्येक सुसंस्कृत मनुष्य का आग्रह रहता है। किन्तु स्वच्छता दो प्रकार की मानी जानी चाहिये – शारीरिक एवं मानसिक। मिट्टी तथा जल से जो स्वच्छता उत्पन होती है, वह

---

1. पर द्रव्येषु लोष्ठवत्। हि० उप० श्लो०,14, आ० स्मृ, 10/11
2. आयुर्त सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते। उत्कार्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा।। म० भा०, शा० प०, 291/3
3. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। ध० शा० अं०, पृ०, 444

शारीरिक या 'बाह्य शौच' है। मन को पवित्र करना 'आन्तरिक शौच' कहा जाता है। इस विषय में भगवान् मनु ने कहा है कि जल के द्वारा शरीर के अवयव शुद्ध होते हैं, सत्य वचन के द्वारा मन की शुद्धि होती है, ब्रह्मविद्या एवं तप आदि के द्वारा जीवात्मा की शुद्धि होती है और ज्ञान के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। यहां सभी उपाय मनुष्य की भिन्न–भिन्न प्रकार की शुचिता पवित्रता के साधक हैं।[1] मनुमराज के अभिप्राय में सर्वश्रेष्ठ शौच तो अर्थ शौच ही है क्यों कि सब प्रकार की शुद्धि में न्याय से प्राप्त किये हुए धन की शुद्धि श्रेष्ठ मानी जाती है। जो मनुष्य न्याय-पूर्वक प्राप्त किये हुए धन से शुद्ध है, वही वास्तव में शुद्ध है। मृत्तिका एवं पानी के द्वारा शुद्ध मनुष्य सही अर्थ में शुद्ध नहीं माना जा सकता। हमारी शुद्धि की वृत्ति हम में दैवी भावनाओं की वृद्धि एवं हमारी भावनाओं का विनाश करती है।[2]

(6) इन्द्रिय – निग्रह :– सब धर्मों में इन्द्रियों के निग्रह पर मीमांसा की गयी है। यह आवश्यक भी है, क्योंकि जैसे जल के बर्तन में छिद्र होने के कारण उस में से जल वह जाता है, वैसे ही इन्द्रियों के समूह में से किसी भी एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त होने पर मनुष्य की बुद्धि

1. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
   विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।। म० स्मृ०, 5/109
2. सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
   चोऽर्थे शुचिर्हि व शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। म० स्मृ०, 5/106

नष्ट हो जाती है।[1] अतएव ईसाने अपने गिरिप्रवचन में
आज्ञा दी है, जिस का भाव इस प्रकार है– 'यदि तुम्हारी
दाहिनी आखँ तुम्हें नीचा दिखाने में कारण बनती है तो
उसे बाहर निकालकरअपने से दूर फेंक दो, क्योंकि तुम्हारे
सम्पूर्ण शरीर को नरक में झोंका जाये, इस की अपेक्षा
तुम्हारा लाभ इस में है कि तुम्हारा अन्यतम अवयव नष्ट
हो जाए और यदि तुम्हारा दाहिना हाथ तुम्हारी अपकीर्ति
का कारण बनता है। तो उसे काट कर अपने से दूर फेंक
दो, क्योंकि तुम्हारे सारे शरीर को नरक में झोंक दिया
जाये, इस की अपेक्षा तुम्हारा लाभ इस में है कि तुम्हारा
अन्यतम अवयव नष्ट हो जाये।
ईसामसीह की यह वाणी इन्द्रिय-निग्रह के विषय में हमें
जाग्रत रहने की कैसी अच्छी चेतावनी देती है।
'अपनी और खींचने के स्वभाव वाले विषयों में विचरण
करने वाली इन्द्रियों को कुशल सारथि के सदृश मनुष्य
यत्नपूर्वक काबू में रखें, अतएव सच्चा इन्द्रिय-निग्रह तो
मन के द्वारा ही होता है, तथापि शरीर के द्वारा भी विषय
सेवन से बचना बहुत लाभदायक है।[2] गीता में कहा गया
है कि इन्द्रियों की क्रिया से दूसरों की भी हानि होगी, मन

1. इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्यकें क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्।। म० स्मृ० 2/99
2. इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान यन्तेव वाजिनाम्।। म० स्मृ० 2/88

के रममाण होने से केवल अपनी ही हानि होगी। अतः मन का संयम परमावश्यक है।[1]

(7) धी अथवा विज्ञान :– विज्ञान को समझाते हुए अष्टावक्र–गीता में बताया गया है कि विषयों में से रस का चला जाना ही मोक्ष है और विषयों में रस का होना ही बन्धन है। विज्ञान इतना ही है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें। इस संसार में विषयरूपी विषयों से बचते रहना आवश्यक है, क्योंकि ये विषय वस्तुतः विष से भी बढ़कर भयंकर है। विष के तो खाने पर मनुष्य मरता है या किसी प्रकार की विकृति का अनुभव करता है, किन्तु विषयों का तो केवल ध्यान ही पतन के लिए पर्याप्त है।[2] विज्ञान के विषय में श्रीमद्‌भगवत गीता में बहुत सफल रीति से बताया गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन–उन विषयों में आसक्ति होती है, आसक्ति से कामना का उदय होता है, कामना की पूर्ति में बाधा उपस्थित होने पर क्रोध होता है, क्रोध से मूढत्व होता है, मूढत्व से स्मृति विभ्रम उपस्थित होता है, स्मृति के नष्ट होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है एवं बुद्धि का नाश हो जाने पर मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

---

1. इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः भ० गी०, 2/60
2. मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः। एतवदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु।। – अ० व० गी० 15/2

अतः ये विषय इतने भयानक है कि इनका चिन्तन ही मनुष्य को क्रमशः अधः पतन के मार्गपर ले जाकर उस का सर्वथा नाश कर देता है। इसी जानकारी को विज्ञान कहते है। इसी का नाम 'धी' है।[1]

(8) विद्या : – विद्या के विषय में बताया गया है कि जिन विद्याओं के कारण चतुर बुद्धि वाला मनुष्य धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। केवल अमुक विषयों की जानकारी ही विद्या नहीं है। वास्तव में जो विद्या मनुष्य को राग–द्वेष क्रोध वैर आदिमानव मनकी क्षुद्र वृत्तियों से मुक्ति दिलाती है, वही विद्या है। सभी विद्वानों ने विद्या को सर्वोत्तम वस्तु कहा गया है क्योंकि न इसे चोर चुरा सकते है, न मूल्य देकर ही यह खरीदी जा सकती है और न इस का नाश ही हो सकता है, चाहे जितना खर्च किया जाय बढ़ने के सिवाय घटने वाली नहीं है।[2]

विद्या मनुष्य को नम्रता देती है और नम्रतासे योग्यता, योग्यता से धन, धन से धर्म, और धर्म से सभी प्रकार के

---

1. ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।। भ० गी०, 2/62-63
2. सर्वद्रव्येषु विद्येव द्रव्यमा हुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्धत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा।। हि० उप०, श्लो० 4

सुख प्राप्त होते हैं। अर्थात विद्या ही सब सुख की मूल जड़ है।[1]

विश्व में दो प्रकार की विद्याएं प्रसिद्ध हैं – एक शस्त्र विद्या और दूसरी शास्त्र विद्या, इन दोनों ही से पुरुष को यश एवं धनादि प्राप्त होते हैं, किन्तु शस्त्र विद्या बुढ़ापे में हंसी कराती है और दूसरी शास्त्र विद्या सर्वदा आदर को प्रदान कराती है।[2] यदि मनुष्य के पास इस प्रकार की विद्या होगी तो वह विद्यापीठों के प्रमाण पत्रों के अभाव में भी सच्चा विद्यावान् होगा।

(9) सत्य :- वाल्मीकि रामायण में बताया गया है कि जगत् में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्यके ही आधार पर धर्म की स्थिति रहती है। सत्य ही सब की जड़ है। सत्य से बढ़कर दूसरी कोई उत्तमगति नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद इन सब का आश्रय सत्य है, इस लिए सब को सत्यपरायण होना चाहिये।[3]

सत्पुरुषों में सदा सत्यरुप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना

---

1. विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पत्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्।। हि० उप०, श्लो०, 6
2. विद्या शस्त्रञ्च-शास्त्रञ्च द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाऽऽद्रियते सदा।। हि० उप०, श्लो०, 6
3. सत्यमेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।।
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरोभवेत्।। वा० रा०,2/109/13-14

चाहिये, क्योंकि सत्य ही जीव की परमगति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।[1] पुराणों में बताया गया है कि 'सत्य से बड़कर धर्म और झूठ से बड़कर दूसरा कोई पाप नहीं है, अतः सब कार्यों में सत्य को ही श्रेष्ठ माना गया है।[2]

(10) अक्रोध :- क्रोध मन का भाव है, जो काम के प्रतिहत होने पर उत्पन्न होता है और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा होता है एवं जब वह प्रकट होता है, तब अवश्यतया हिंसा का आश्रय स्वीकार कर लेता है। ऐसा होने के कारण भगवतगीता में नरक के तीन द्वार काम, क्रोध एवं लोभ में उनकी गणना की गयी है। जैन शास्त्र भी पुकारकर कहते हैं कि यदि क्रोध करना ही हो तो क्रोध के ऊपर ही करना चाहिये। क्रोध को चण्डाल कहकर लोग उसकी निन्दा करते हैं। क्रोध से मनुष्य अंधा बन जाता है। अतः क्रुद्ध हाने वाले की ही हानि होती है।

महाभारत में कहा गया है - हे द्रौपदि! धीर पुरुषों द्वारा त्यागे हुए क्रोध को मैं अपने हृदय में कैसे स्थान दे

---

1. सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
   सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमागतिः।।
   सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
   सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।। म० भा०,शा०,162/4-5
2. नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
   अतः सर्वेषु कार्येषु सत्यमेव विशिष्यते। धर्म० शा० अं०, पृ० 13

सकता हूँ।[1] क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापों को कर सकता है। वह अपने गुरुजनों का नाश कर डालता है। श्रेष्ठ पुरुषों का तिरस्कार कर देता है। क्रोधी पुत्र अपने पिता को तथा क्रोध करने वाली स्त्री अपने पति को मार डालती है। क्रोधी पुरुषों को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वह जो चाहे सो अनर्थ बात ही बात में कर डालता है। उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता।[2] वह जो मन में आता है वही बोलने लगता है। अतः तुम्हीं बतलाओ, महाअनर्थों के मूल क्रोध को मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ। द्रौपदी! क्रोध को तेज मानना मूर्खता है। वास्तव में जहाँ तेज है वहाँ क्रोध रह ही नहीं सकता। ज्ञानियों का यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुष में क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होने पर भी जो अपने विवेक द्वारा उसे शान्त कर देता है, उसी को तेजस्वी कहते हैं।

---

1. तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत।
एतद् द्रौपदि संधाम न मे मन्युः प्रवर्धते।। म० भा०, व० प०, 29/8
2. वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्।
नकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा।। म० भा०, व० प०, 29/5

द्वितीय अध्याय
धर्म विषयक विभिन्न मत

द्वितीय अध्याय

(क) वैदिक मत

(1) ऋग्वेद का मत :– ऋग्वेद में बताया गया है 'जो मनुष्य अकेला खाता है, वह अकेला ही पाप का भागी होता है।'[1] 'परिश्रम किये बिना देवता सहायक नहीं होते हैं। धर्मात्मा को सत्य की नाव पार लगाती है।'[2] 'हे प्रभो! हम कल्याण मार्ग के पथिक बने'।[3] 'हमारे लिये औषधियाँ मधुरता से परिपूर्ण हों'[4] 'हे अग्निदेव! हमें धन के लिये सन्मार्ग ले चलो।'[5] 'हे परमेश्वर! हम तेरे मित्र भाव में दुखी और विनष्ट न हों।' 'उस एक प्रभु को विद्वान् लोग अनेक नामों से पुकारते हैं।'[6] 'जो उस ब्रह्म को नहीं जानता, वह वेद से क्या करेगा।' 'शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवन वाले हो।' 'हम देवताओं की मैत्री प्राप्त करें।'[7] 'सत्य का मार्ग सुख से गमन करने योग्य है।'[8] 'हम स्वराज्य के लिये सदा यत्न करें।'[9]

(2) यजुर्वेद का मत :– यजुर्वेद में बताया गया है 'हम कानों से सदा भद्र मङ्गलकारी वचन ही सुने'।[10] 'वह

---

1. केवलाद्यो भवति केवलादी।। ऋ० वे०, 10/117/6
3. सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।। ऋ० वे०, 9/73/1
4. स्वस्ति पन्थामनु चरेम। ऋ० वे०, 5/51/15
5. माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।। ऋ० वे०, 1/90/6
6. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। ऋ० वे०, 1/189/1
8. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ० वे०, 1/164/46
11. देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्। ऋ० वे०, 1/89/2
12. सुगा ऋतस्य पन्थाः। ऋ० वे०, 8/31/13
13. यतेमहि स्वराज्ये। ऋ० वे०, 5/66/6
14. भद्रंकर्णेभिः श्रुजुयाम य० वे०, 25/21

व्यापक प्रभु सब प्रजाओं में ओत प्रोत है।'[1] मनुष्य इस संसार में कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।'[2] 'मैं असत्य से बच कर सत्य को धारण करता हूँ।'[3] 'प्रभु ने असत्य में अश्रद्धा को और सत्य में श्रद्धा को रखा है।'[4]

(3) सामवेद का मत :- सामवेद में कहा गया है, 'सुन्दर वाणियां कल्याणकारिणी होती हैं।[5] 'मित्र की भाँति अतिथि का स्वागत करना चाहिये।'[6] 'उपकारिणी प्रिय एवं सत्य वाणी हमें प्राप्त हो।'[7] 'भविष्य की योजना करने वाला ही वस्तुतः मानव है।'[8] 'विद्या ही हमें पवित्र करने वाली है।'[9] 'सहयोगियों की संवर्धना करे'।[10] 'हम प्रजा के द्वारा श्रेष्ठ कार्य करें।'[11] अर्जनशील बुद्धि को प्राप्त करें।'[12] 'श्रद्धा ही जननी है।'[13]

---

1. सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। य० वे०, 32/8
2. कुवन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः। य० वे०, 40/2
3. अहामनृतात्सत्यमुपैमि। य० वे०, 1/15
4. अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। य० वे०, 19/77
5. भद्रा उत प्रशस्तयः। सा० वे०, 111
6. अतिथिँ स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।। सा० वे०, 5
7. प्रदेव्येतु सूनृता। सा० वे०, 56
8. मनुः कविः। सा० वे०, 90
9. पावकानः सरस्वती।। सा० वे०, 189
10. समानमु प्रशँ सिषम्।। सा० वे०, 204
11. सं महेमा मनीषया। सा० वे०, 66
12. सनिं मेधामयासिषम्।। 171
13. श्रद्धा माता। सा० वे०, 90

(4) अर्थववेद का मत :– अथर्ववेद में बताया गया है कि हे परमात्मा! मुझे ब्रह्मज्ञानी विद्वानों में प्यारा बनाओ।[1]
प्राणियों की ओर से बेपरवाह मत हो।[2]
एक परमेश्वर ही पूजा के योग्य प्रजाओं में स्तुत्य है।[3]
जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं, वे मोक्षपद पाते हैं।[4]
पुण्य की कमाई मेरे घर की शोभा बढ़ाए, पाप की कमाई को मैंने नष्ट कर दिया है।[5]
हम वेदादि शास्त्रों से सदा सम्पन्न रहें।[6]
हमसे मृत्यु दूर रहे और हमे अमृत पद प्राप्त हो।[7]
हमारे लिये सभी दिशाएँ कल्याणकारिणी हों।[8]
हम विद्वान् पुरुषों की शुभमति में (उत्तम उपदेशों के अनुसार) रहें।[9]
यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बान्धने वाला नाभिस्थान है।[10]
समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियम वाले बन कर परस्पर कल्याणकारी वाणी से बोलना चाहिये।[11]

---

1. प्रियं मा कृणु देवेषु। अ० वे० 19/62/1
2. मा जीवेभ्यः प्रमदः। अ० वे० 8/1/7
3. एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। अ० वे० 2/2/1
4. य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। अ० वे० 9/10/1
5. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। अ० वे० 7/115/4
6. सं श्रुतेन गमेमहि। अ० वे० 1/1/4
7. परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु। अ० वे० 18/3/62
8. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। अ० वे० 18/3/62
9. वयं देवानां सुमतौस्याम। अ० वे० 6/47/2
10. यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। अ० वे० 9/10/14
11. समयञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया। अ० वे० 3/30/3.

(ख) स्मृतियों का मत

(1) वसिष्ठस्मृति का मत :– वसिष्ठ स्मृति में बताया गया है कि धर्म का ही आचरण करो अधर्म का नहीं। सदा सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दूरदर्शी बनो, सोच विचार कर विवेकपूर्वक धर्माधर्म का निर्णय करो। ह्रस्व अर्थात् संकीर्ण न बनों, उदार बनो। जो पर से भी परे परात्पर तत्त्व है, उसी तत्त्वपर सदा दृष्टि रखो, तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मा से भिन्न मायामय किसी भी वस्तु पर दृष्टि मत रखो।[1]

(2) दक्षस्मृति का मत :– जो अपने आश्रित हों, ऐसे पोष्यवर्ग का भरण–पोषण करना अत्यन्त प्रशस्त कर्म है, वह स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है। आश्रित जनो को पीड़ा पहुँचाना, दुःखी करना, उनका पालन–पोषण न करना नरक प्राप्ति हेतु है, इस लिये उन की उपेक्षा न कर अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पोष्यवर्ग का भरण–पोषण करना चाहिये[2] जो पुरुष इस लोक में अनेक व्यक्ति की जीविका चलाता है, उसी का जीवन सफल है। अन्य लोग जो केवल अपना ही

---

1. धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम्।
   दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्।। वसि० स्मृ०, 30/1
2. भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्।।
   नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत्।। द० स्मृ०, 2/30–31

पेट भरते हैं, वे जीते जी मरे हुए के समान हैं, उनका जीना न जीना बराबर ही है।[1]

महर्षि दक्ष कहते हैं कि माता पिता, गुरु, मित्र, विनयी, उपकारी, दीन, अनाथ तथा साधु सन्त–महात्माजनों को जो कुछ भी दिया जाता है, वह सफल एवं अक्षय होता है।[2]

(3) कण्वस्मृति का मत :– महर्षि कण्व ने अपनी स्मृति के अन्त में सभी कर्मों के निचोड़ के रूप में सदाचार की ही विशेष महिमा निरूपित करते हुए बतलाया है कि जो नित्य शौच–स्नानादि क्रियाओं से शरीर की शुद्धि और यम नियमादि के पालन से अन्तः करण की शुद्धि करता है, सदाचार का एवं धर्माचरण का पालन करता है, सदा अग्नि आदि देवों की उपासना करता है, सदा पवित्र एवं निर्मल रहता है, सदा संतुष्ट रहता है, सदा शान्त रहता है और असूया ईर्ष्यादि दोषों से रहित हो कर व्यवहार करता है, वह ब्रह्मयज्ञरूपी क्रिया से शुद्ध होकर यज्ञ यागादि के महान् फल को प्राप्त कर लेता है।[3]

---

1. जीवत्येकः स लोकेषु बहुभिर्योऽनुजीव्यते।
जीवन्तोऽपि मृताश्चान्ये पुरुषा स्वोदरम्भराः।। द० स्मृ०, 2/40
2. मातापित्रोर्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणि।
दीनानाथ विशिष्टेभ्यो दत्तं तु सफलं भवेत्।। द० स्मृ०, 3/15
3. नित्यस्नानः सदाचारः सदावह्निः सदाशुचिः।।
सदा तुष्टः सदा शान्तः सदासुयाविवर्जितः।
ब्रह्ममेधक्रियाशुद्धः पूर्वतुल्यो भवत्यपि। ध० शा० अं पृ० 417

(4) कपिलस्मृति का मत :– महर्षि कपिल जी विशेष उपदेश देते हुए कहते हैं कि जैसे भी हो सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिये। धर्माचरण ही परम श्रेयस्कर है वही परम गन्तव्य है। अधर्म का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रों ने उस का प्रबल विरोध किया है और उसे नरक का हेतु बतलाया है।[1]

(5) लौगाक्षिस्मृति का मत :– लौगाक्षि स्मृति में कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि जो कार्य सब प्रकार से मङ्गलजनक हो, परम कल्याणकारी हो, वही कार्य बार–बार अथवा निरन्तर करना चाहिये।[2]

(6) अङ्गिरसस्मृति का मत :– अङ्गिरसस्मृति में बताया गया है कि मनुष्य जो दुष्कृत करता है, निन्दनीय कर्म करता है और उस से जो उस का पाप फल बनता है, वह पाप उस के अन्न का आश्रय करके टिका रहता है, इस लिए ऐसे पापाचारी, दुष्कर्मी का अन्न ग्रहण करने से उस के पाप का ही ग्रहण होता है, ऐसा अन्न भक्षण करने से वह भी पापाचारी बन जाता है, अतः ऐसे लोगों का अन्न ग्रहण नही करना चाहिये[3] कोई भी व्यक्ति 'देवताओं के

---

1. सदैव धर्मः परमः सेव्यो नाधर्म उच्यते।।
   धर्ममार्गेण सर्वैस्तैर्गन्तव्यो नान्यमार्गतः। ध० शा० अं पृ० 422
2. हितं श्रेयस्करं भूरि कर्म कार्यं मनीषिभिः।। ध० शा० अं पृ० 397
3. दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति।
   यो यस्यात्रं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्।। अङ्गि०स्मृ०,श्लो,57

बल' एवं शास्त्रों के बल, अथवा बाद में मैं इस का प्रायश्चित कर लूंगा–ऐसे समझ कर पाप कर्म में प्रवृत्त न होवे, क्योंकि इस प्रकार करने से वह कर्म देवापराध, शास्त्रापराध अथवा प्रायश्चित सम्बन्धी अपराध बन जाता है। निन्द्य कर्म चाहे अज्ञान में बन पड़े या प्रमाद से हो जाये, तो भी वह जला ही डालता है। अतः व्यवहार में बहुत ही सावधानी रखनी चाहिये।[1]

(7) आपस्तम्बस्मृति का मत :– महर्षि आपस्तम्ब अपनी स्मृति में बतलाते हैं कि परायी स्त्री को माता के समान, पर द्रव्य को मिट्टी के समान और सभी प्राणियों को अपने ही समान जो व्यक्ति देखता है, वह वास्तव में सच्चा आत्मद्रष्टा है।[2]

(8) औशनसस्मृति का मत :– औशनसस्मृति में कहा गया है कि आत्मकल्याण कामी व्यक्ति को चाहिये कि वह निरन्तर इन्द्रियों के विषयों को अपने वश में रख कर जितेन्द्रिय रहे। मन के वश में न होकर आत्मा के वश में रहे। क्रोध न करे, सदा बाह्याभ्यन्तर पवित्र रहे और सदा एसी वाणी बाले जो मधुर हो और हित करने वाली हो

---

1. न देव बलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत्।
   आज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा दहते कर्म नेतरत्।। अङ्गि० स्मृ०, श्लो, 58
2. मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
   आत्मवत् सर्वभूतानि य पश्यसि स पश्यसि।। आप० स्मृ०, 10/11

अर्थात् कठोर एवं अकल्याण कारी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिये।[1]

(९) प्रजापतिस्मृति का मत :- प्रजापति रुचि ने दयाधर्म को मुख्य धर्म बताते हुए सभी प्राणियों पर दया रखते हुए सब के कल्याण में तत्पर रहने का उपदेश प्रदान किया है और बताया कि यदि पुण्यप्राप्ति की अभिलाषा हो, कल्याण प्राप्ति की इच्छा हो तो सभी प्राणियों के प्रति दया एवं करुणा का भाव रखना चाहिये। मन वाणी तथा कर्म से अहिंसा का भाव रखना सब से बड़ा धर्म है। इस लिए प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के ही समान समझ कर सब के साथ प्रेम, मैत्री, दया एवं आदर का उच्चभाव रख कर व्यवहार करना चाहिये[2]

(10) याज्ञवल्क्यस्मृति का मत :- महर्षि याज्ञवल्क्य सब प्रकार से सर्वदा धर्माचरण का परामर्श देते हुए कहते हैं कि शरीर से यथाशक्ति धर्म का ही अनुष्ठान करे, धर्म का ही चिन्तन करे और धर्म की बात बोले। विहित धर्म होने पर

---

1. जितेन्द्रियः स्यात् सततं वश्यात्माक्रोधनः शुचिः।
प्रयुञ्जीत सदा वाचं मधुरां हितभाषिणीम्।। औश० स्मृ०, श्लो, 123
2. कारुण्यं प्राणिषु प्रायः कर्तव्यं पुण्यहेतवे।
अहिंसा परमें धर्मस्तस्मादात्मददाचरेत्।। ध० शा० अं पृ० 393

भी यदि कोई बात लोकमर्यादा के विरुद्ध पड़े तो उस का आचरण न करे, क्योंकि वह अस्वर्ग्यकर है।[1]

(11) वृद्धशातातपस्मृति का मत :– महर्षिशातातप महत्त्वपूर्ण उपदेश बतलाते हुए कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः काल जगकर यह समझना चाहिये कि यह जीवन क्षणिक है, इस में महान् भय उपस्थित हैं। पता नहीं कब मरण हो जाए, कब कौन सी व्याधि आ जाये, कब कौन शोक आ जाये, अर्थात् ये अत्यन्त समीप में ही आये हुए हैं, ऐसा समझ कर धर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिये, भजन–पूजन, भगवत्सेवा इत्यादि उत्तम कामों में ही अपना समय लगाना चाहिए, मृत्यु कब आकर घेर लेगी, इस का कुछ पता नहीं। यह समझना चाहिये कि हम काल के मुँह में ही पड़े हैं, अतः अच्छे काम को कल के लिये नहीं टालना चाहिये। कल करूँगा, आज करुंगा, पुर्वाह्न में करुंगा, अपराहण में करुंगा, इस प्रकार से टाल–मटोल करके सत्कर्म की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अच्छे कामों को, सत्कर्मों को धर्माचरण को तत्काल ही कर ले और बुरे काम को टालता रहे। मृत्यु किसी की प्रतिक्षा नहीं करती। वह तो अपने नियत समय पर आयेगी ही। चाहे मनुष्य ने अपना काम कर लिया हो चाहे वह काम करने वाला हो, इस का खयाल मृत्यु नहीं करती। अर्थात् मृत्यु नियत है,

---

1. कर्मणा मनसा वाचा यतनाद्धर्मं समाचरेत्।
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्यचरेन्न तु।। या०व०स्मृ०, आ०अ०, श्लो, 156

काल नियत है, थोडा–सा समय मिलता है, अतः जैसे बन पड़े, जितनी जल्दी बन पड़े, आत्म कल्याण में लग जाना चाहिए।[1]

(12) उत्तराङ्गिरसस्मृति का मत :– महर्षि अङ्गिरा सभी को सावधान करते हुए यह भी कहते हैं कि यद्यपि बुद्धिवादी विद्वान् धर्मशास्त्रों में वर्णित विधानों के अतिरिक्त भी कुछ धर्ममर्यादा दे सकते हैं, किन्तु वह मर्यादा और उनका वह कर्म उनके अपने अभिप्राय के अनुरूप होने के कारण (मनमाना होने के कारण) तथा विधि–विधान से विपरीत होने के कारण बालकों की क्रीड़ा के समान निरर्थक ही है, अतः धर्म–कर्म के निर्णय में धर्मशास्त्रों का निर्णय ही सर्वमान्य है न कि किसी बुद्धिवादी व्यक्ति का अभिमत।[2]

(13) शांण्डिल्यस्मृति का मतः– महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पति की सर्वतोभावेन सेवा करती है, जैसे माता अपने लाडले दुधमुँहे बच्चे का पालन करती है, जैसे सत्–शिष्य अपने आचार्य के प्रति

---

1. उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम्।
मरणव्याधियशोकानां किमद्य निपतिष्यति।।
श्वः कार्यमद्य कुवीर्त पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं चास्य न वाऽकृतम्।।
ध० शा० अं पृ० 326,327

2. प्रज्ञानैरपि विद्वद्भिः शक्यमन्यत् प्रभाषितुम्।।
स्वाभिप्रायकृतं कर्म विधिविज्ञावर्जितम्
क्रीडाकर्मे व बालनां तत्सर्वं स्यन्निरर्थकम्।। ध० शा० अं पृ० 405

श्रद्धा एवं आदर भाव रखता है और जैसे एक अच्छा मित्र अपने अच्छे मित्र का सब प्रकार खयाल रखता है, उसी प्रकार भक्त को भी भगवान् की शुद्ध, निःस्वार्थ, निश्छल और प्रेममयी भक्ति करनी चाहिए। भगवान् को ही अपना स्वामी, मित्र, गुरु तथा माता–पिता सब कुछ समझकर उन की सेवा करनी चाहिये।[1]

(14) वृद्धगौतमस्मृति का मतः– महर्षिगौतम धर्माचरण के विषयों में उपदेश देते हुए कहते हैं कि मनुष्य–जन्म को प्राप्त कर सदा धर्माचरण ही करना चाहिये।[2] वृद्धगौतम स्मृति के आरम्भ में भगवान् केशव युधिष्ठिर से धर्म का उपदेश देते हुए कहते है – कि राजन! धर्म ही माता–पिता, सुहृद, भाई, सखा तथा स्वामी–सब कुछ है। धर्म से ही अर्थ, काम, भोग, सुख ऐश्वर्य तथा स्वर्गादिलोक प्राप्त होते हैं।[3]

(15) बृहस्पतिस्मृति का मत :– आचार्य बृहसपति पूर्त–धर्म की महिमा का वर्णन बतलाते हुए कहते हैं कि

---

1. सतीव प्रियभर्तारं जननीव स्तनन्धयम्।
   आचार्याशिष्यवन्मित्र मित्रमत् लालयेद्धरिम्।।
   स्वामित्वेन सुहृत्वेन गुरुत्वेन च सर्वदा।
   पितृत्वेन समाभाव्यो मातृभावेन माधवः।। ध० शा० अं पृ० 353
2. तस्माद्धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।। ध० शा० अं पृ० 332
3. धर्मः पिता च माता च धर्मश्य सुहृदस्तथा।
   धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परन्तप।।
   धर्मादर्थश्च कामश्च धर्माद्भोगः सुखानि च।
   धर्मादैश्वर्यमेवं च धर्मः स्वर्गगतिः प्रभो।। ध० शा० अं पृ० 332

निःस्वार्थभाव से कुआँ, बावड़ी, तालाब, देवालय, धर्मशाला, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय, मन्दिर, पौसला आदि बनवाना तथा मार्ग आदि बनवाना-ये सभी लोकोपकार एवं जनहित के कार्य करना-करवाना पूर्त धर्म कहलाता है। आचार्य बृहस्पति ने पूर्त-धर्म की विशेष महिमा गायी हैं और कहा है कि जो नये तालाब का निर्माण करता है अथवा पुराने तालाब का जीर्णोद्धार कराता है, वही अपने कुल का उद्धार कर देता है और स्वयं भी स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।[1]

(16) व्याध्रपादस्मृति का मत :- महर्षिव्याध्रपाद ने अपनी स्मृति में बतलाया है कि प्रत्येक कार्य उस के नियत समय पर करने से ही सिद्धि होती है। असमय में की गयी कोई भी क्रिया निष्प्रयोजन की होती है, सफल नहीं होती। अतः समय पर ही सब कार्यों को करना चाहिये। सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी देवता समय की मर्यादा में ही प्रतिष्ठित हैं। यदि सूर्य समय पर उदय होना छोड़ दे तो संसार की क्या स्थिति हो जाएगी। इस प्रकार काल की मर्यादा मे स्थिर रहना ही देवों का देवत्व हैं समय पर दी गयी मात्र एक आहुति भी पूर्ण फलदायी होती है, किन्तु असमय में करोड़ों की संख्या में भी आहुति दी जाए तो वह फलीभूत नहीं

---

1. यस्तडागं नवं कुर्यात् पुराणं वापि खानयेत्।
स सर्वं कुलमुद्धत्य स्वर्गे लोके महीयते।।
वापीकूपतडागानि उद्यानोपवनानि च।
पुनः संस्कारकर्ता च लभते मौलिकं फलम्।। बृहस्० स्मृ०, श्लो० 62-63

होती। जो बिना समय के कार्य करता है, समय पर कार्य नहीं करता और समय बीत जाने पर कार्य करने की चेष्टा करता है, उस का वह प्रयत्न निष्फल एवं निष्प्रयोजन ही समझना चाहिये।[1] महर्षि व्याध्रपाद कहते हैं कि एक हाथ से अभिवादन कभी नहीं करना चाहिये, जो ऐसा करता है, उस का यावज्जीवन जो कुछ भी पुण्यार्जन किया रहता है, वह सब निष्फल हो जाता है। अर्थात् एक हाथ से प्रणाम आदि करने पर जीवन भर का सारा पुण्य समाप्त हो जाता है। अतः दोनों हाथों से बड़ी ही नम्रता एवं श्रद्धा-भक्ति से अभिवादन करना चाहिये।[2]

(17) हारीतस्मृति का मत :- महर्षि हारीत योग प्रक्रिया बतलाते हुए कहते हैं कि साधक को सर्वप्रथम प्राणायाम के सहारे वाणी के संयम में तथा प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश करने में सहायता मिलती है। पुनः धारणा के अभ्यास से दुर्धर्ष एवं अजेय मन भी सरलता पूर्वक वश में हो जाता है और एक ही स्थान पर केन्द्रित होने लगता है। धारणा के द्वारा एकाग्र-वृत्ति और एकाग्र-मन के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के आधार भूत निर्मल अतिसूक्ष्म परमात्मा तत्त्व का ध्यान होने लगता है। परमात्मा का रूप शुद्ध प्राप्त स्वर्ण के समान निर्मल एवं अति दीप्तिमान् है और वही शुद्ध

---

1. कालातीतं तु यत्कर्म अकृतं तं विनिर्दिशेत्।। ध० शा० अं पृ० 370
2. जन्मप्रभृति यत्किंचित् सुकृतं समुपार्जितम्।
तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्। ध० शा० अं पृ० 371

आत्मा है, जो अपने शरीर के अन्तर्गत तथा बाह्य विश्व में भी व्याप्त है। इस प्रकार जो सभी प्राणियों तथा योगी के हृदय में स्थित है, वह एक ही परमात्मा है। उस परमात्मा के ध्यान से साधक का तथा सम्पूर्ण विश्व का भी कल्याण हो जाता है। जब तक उस तत्त्व की प्राप्ति न हो जाय, तब तक निरन्तर उस के ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये।[1]

जैसे पक्षी एक पंख के सहारे आकाश में उड़ नहीं सकते, उन्हें उड़ने के लिये दोनों पंखों का सहारा लेना पड़ता है, उसी प्रकार योगाभ्यास में कर्म योग के द्वारा विशेष ज्ञान की प्राप्ति और उसी ज्ञान के आश्रय से योग में उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होती जाती है, ऐसा साधक उत्तरोत्तर अभ्यास क्रम से शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[2]

(ग) पौराणिक मत

(1) विष्णुपुराण का मत :- विष्णुपुराण में महर्षि वेदव्यास जी कलियुग की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि जो फल सत्य युग में दस वर्ष, तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करने से मिलता है, उसे मनुष्य त्रेता में एक वष, द्वापर

---

1. योगाभ्यासबलेनैव नश्येयुः पातकानि तु।
तस्माद्योगपरोभूतवा ध्यायेन्नित्यं क्रियापरः।। हा० स्मृ०, ७/3
2. उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्।। हा० स्मृ०, ७/10-11

में एक मास और कलि युग में केवल एक दिन-रात में प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैं ने कलियुग को श्रेष्ठ कहा गया है। जो फल सत्ययुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ और द्वापर में देवार्चन करने से प्राप्त होता है, वही कलियुग में श्री कृष्ण का नाम कीर्तन करने से मिल जाता है।[1]

(2) ब्रह्मपुराण का मत :- ब्रह्मपुराण में महर्षि वेदव्यास जी कहते है कि ब्राह्मणो! जो मोहवश अधर्म का आचरण कर लेने पर उस के लिये पुनः सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता और मन को एकाग्र रखता है, वह पाप का सेवन नहीं करता। ज्यों-ज्यों मनुष्य का मन पाप कर्म की निन्दा करता है, त्यों-तयों उस का शरीर उस अधर्म से दूर हो जाता है। यदि धर्म वादी ब्रह्मणों के सामने अपना पाप कह दिया जाय तो वह उस पापजनित अपराध से शीघ्र मुक्त हो जाता है। मनुष्य जैसे-जैसे अपने अधर्म की बात बारंबार

---

1. यत्कृते दशभिर्विर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
   द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ।।
   तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
   प्राप्रेति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्।।
   ध्सासन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
   यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।। वि० पु०, 6/2/15-17

प्रकट करता है, वैसे–ही–वैसे वह एकाग्रचित्त होकर अधर्म को छोड़ता जाता है।[1]

(३) पद्मपुराण का मत :– पद्मपुराण में महर्षि वेदव्यास नररूप में स्थित देवताओं का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि जो द्विज, देवता, अतिथि, गुरु, साधु और तपस्वियों के पूजन में संलग्न रहने वाला है तथा नित्य तपस्यापरायण, धर्म एवं नीति में स्थित, क्षमाशील, क्रोधजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, लोभ हीन, प्रिय बोलनेवाला, शान्त, धर्मशास्त्रप्रेमी, दयालु, लोकप्रिय, मृदुभाषी, वाणीपर अधिकार रखने वाला, सब कार्यों में दक्ष, गुणवान, महाबली, साक्षर, विद्वान्, आत्मविद्या आदि के लिये उपयोगी कार्यों में संलग्न, घी और गाय के दूध दही आदि तथा निरामिष भोजन में रुचि रखने वाला, अतिथि को दान देने और पार्वण आदि कर्मों में प्रवृत्त रहने वाला एवं जिस का समय स्नान–दानादि शुभ कर्म, व्रत, यज्ञ, देवपूजन तथा स्वाध्याय

---

1. मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते।
मनः समाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम्।।
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते।।
यदि विप्राः कथते विप्राणां धर्मवादिनाम्।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपराधात् प्रमुच्यते।।
यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते।
समाहितेन मनसा विमुञ्चति तथा तथा।। ब्र० पु०, 218/4-7

आदि में ही व्यतीत होता है, उस का कोई भी दिन व्यर्थ नहीं जाने पाता, वही मनुष्य देवता है।[1]

(4) स्कन्दपुराण का मत :- स्कन्दपुराण में महर्षि वेद-व्यास, यम-नियम, को बतलाते हुए कहते हैं कि सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, क्रूरता का अभाव, हिंसा का सर्वथात्याग, मन और इन्द्रियों का संयम, सदा प्रसन्न रहना, मधुर बर्ताव करना और सब के प्रति कोमल भाव रखना ये दस 'यम' कहे गये हैं। शौच स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थ-इन्द्रियका दमन-ये दस 'नियम' बताये गये हैं।[2]

---

1. सुराणां लक्षणं ब्रूमौ नररूपव्यवस्थितम्।
द्विजदेवातिथीनां च गुरुसाधुतपस्विनाम्।।
पूजातपोरतो नित्यं धर्मशास्त्रेषु नीतिषु।
क्षमाशीलो जितक्रोधः सत्यवादी जितेन्द्रियः।।
अलुब्धः प्रियवाक् शान्तो धर्मशास्त्रार्थसम्प्रियः।
दयालुर्दयितो लोके रूपवान् मधुरस्वरः।।
वागीशः सर्वकार्येषु गुणी दक्षो महाबलः।
साक्षरश्चापि विद्वांश्च गीतनृत्यार्थतत्त्ववित्।।
आत्मविद्यादि कार्येषु सर्वतन्त्रीस्वरेषु च।
हविष्येषु च सर्वेषु गव्येषु च निरामिषे।।
सम्प्रीचश्चातिथौ दाने पार्वणादिषु कर्मसु।
स्नानदानादिभिः कार्यैव्रतैर्यज्ञैः सुरार्चनैः।।
कालो गच्छति पाठेश्च न क्लीवं वासरं भवेत्।
अयमेव मनुष्याणां सदाचारो निरन्तरम्।।
प०पु०, सृ०ख०, 74/107-111,113-14

2. सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्।।
दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश।
शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याध्ययनं ब्रतम्।।
उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते वियमाः स्मृताः।
स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० 5/19-21

(5) मार्कण्डेयपुराण का मतः– महर्षि मार्कण्डे जी ने कहा है कि 'समस्त प्राणी प्रसन्न रहें। दूसरों पर भी स्नेह रखें। सब जीवों का कल्याण हो। सभी निर्भय हों। किसी भी प्राणी को कोई व्याधि या मानसिक व्यथा न हो। समस्त प्राणी सब के प्रति मित्रभाव के पोषक हों। ब्राह्मणों का कल्याण हो। (प्राणियों के प्रति उनका उपदेश है) अरे लोगो! सब भूतों के प्रति तुम्हारी बुद्धिकल्याणमयी हो। तुम लोग जिस प्रकार अपना तथा अपने पुत्रों का सर्वदा हित चाहते हो, उसी प्रकार सब प्राणियों के प्रति हित–बुद्धि रखते हुए बर्ताव करो। यह तुम्हारे लिये अत्यन्त हित की बात है। कौन किस का अपराध करता है। यदि कोई मूढ़ किसी का थोड़ा भी अहित करता है तो वह निश्चय ही उस का फल भोगता है, क्योंकि फल सदा कर्ता को ही मिलता है। यह विचार कर सब के प्रति पवित्र भाव रखो। इस से इस लोक में पाप नहीं बनेगा और तुम्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी। बुद्धिमानो! सब के प्रति ऐसा भाव रखो कि जो मेरे साथ स्नेह रखने वाले हैं, उनका कल्याण हो तथा जो मेरे साथ द्वेष रखने वाले हैं, वे भी कल्याण के ही भागी बनें।[1]

(6) नारदपुराण का मतः– नारदपुराण में महात्मा कपिल कहते है कि 'जो ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हैं, जो भूख से पीडित हैं, जो कामी हैं तथा जो अहंकार से मूढ़ हो रहे

---

1. नन्दन्तु सर्वभूाति..................सोडवि भूताणि पश्यतु।।
मार्कण्डे०पु० 117/12–19

हैं, ऐसे मनुष्यों को विवेक नहीं होता। यदि दुष्ट मनुष्य सज्जनों को सताते हैं तो इस में क्या आश्चर्य है? नदी का वेग किनारे पर उगे हुए वृक्षों को भी गिरा देता है। जहाँ धन भी है, जवानी भी है तथा परस्त्री भी है, वहाँ सदा सभी अंधे और मूर्ख बने रहते हैं। दुष्ट के पास लक्ष्मी हो तो वह लोक का नाश करने वाली ही होती है, और जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को बढ़ाने में सहायक होता है, और जैसे साँप को पिलाया गया दूध उस के बिष को बढ़ाने में कारण होता है, वेसे ही दुष्ट की लक्ष्मी उस की दुष्टता को बढ़ा देती है। अहो! धन के मद से अंधा दुआ मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता। यदि वह अपने आत्म कल्याण की ओर दृष्टि रखता है, तो तभी वह वास्तवमें देखता है।'[1]

(7) भागवतपुराण का मतः– भागवतपुराण में कहा गया है कि शास्त्रों में पारंगत हो कर भी जो मनुष्य पर ब्रह्म का

---

1. ऐश्वर्यमदमतानां क्षुधितानां च कामिनाम्।
अंहकार विमूढ़ानां विवेको नैव जायते।।
किमत्र चित्रं सुजनं बाधन्ते यदि दुर्जनाः।
महीरूहांश्चानुतटे पातयन्ति नदीरयाः।।
यत्र श्री यौवनं वापि परदारो ऽपि तिष्ठति।
तत्र सर्वान्धता नित्यं मूर्खत्वं चापि जायते।।
भवेद्यादिखलस्यश्रीः सैव लोकविनाशिनी।
यथा सखाग्ने पवनः पन्नगस्य मयोयथा।।
अहो धनपदान्धस्तु पश्चन्नधि न पश्यति।
यदि पश्यत्यात्महितं स पश्यति न संशयः।।
नाo पुo, 103,105,106,108,109

ज्ञान नहीं रखता उस का श्रम दूध न देनेवाली गौ की दूध के लिये सेवा करने वाले व्यक्ति के समान श्रम रूप फलवाला ही होता है[1] जो व्यक्ति देवताओं, वेदों, गौओं, ब्राह्मणों, साधुओं, धर्म-कार्यों तथा मुझ से द्वेष करने लगता है, उस का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।[2] सूतजी ऋषियों को बताते हैं कि धर्मपालन का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है, अर्थ प्राप्ति नहीं। अर्थोपार्जन का लक्ष्य धर्मसाधन है, कामपूर्ति नहीं। कामपूर्तिका लक्ष्य जीवनयापन है, इन्द्रियतृप्ति नहीं। जीवन का लक्ष्य तत्त्वज्ञान है, स्वार्थ पूर्ति नहीं। ये नियम सब के लिये समान हैं।[3]

(घ) महाकाव्यों का मत

(1) महाभारत का मत :- महाभारत में कहा गया है कि चिरकाल तक सोचविचार करके किसी के साथ मित्रता स्थापित करनी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़ने की आवश्यकता पड़ ही जाय तो उस के परिणाम पर चिरकाल तक विचार कर

---

1. शब्द ब्रह्माणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
   श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः।। भा० पु०, 11/11/18
2. यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
   धर्मेमयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति।। भा० पु०, 7/4/27
3. धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकलपते।
   नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।।
   कमिस्य नेन्द्रियप्रीहतिर्लाभो जीवेत यावता।
   जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।। भा० पु०, 1/2/9-10

लेना चाहिये। दीर्घकाल तक सोच–विचार कर के बनाया हुआ जो मित्र है, उसी की मैत्री चिरकालतक टिक पाती है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसी का अप्रिय करने में जो विलम्ब करता है, उस की प्रशंसा की जाती है।[1] प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर हर्ष से फूल न उठे, अपने मन के विपरीत कोई बात हो जाए तो दुःख न माने–चिन्तित न हो, अर्थसंकट आ जाय तो भी मोह के वशीभूत हो धबराये नहीं और किसी भी अवस्था में अपना धर्म न छोड़े।[2] सदाचार की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये, धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जाने पर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता, किन्तु जो सदाचार से भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये।[3] कल किया जाने वाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायं काल में करना है, उसे प्रातः काल में ही कर लेना चाहिये, क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इस का काम अभी पूरा हुआ या नहीं।[4] मनुष्य

---

1. चिरेण मित्रं वधनीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत्।
   चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारण मर्हति।।
   रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि।
   अप्रिये चैव कर्तव्यों चिरकारी प्रशस्यते।।
   म० भा०, शा० प, 266/69–70
2. प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
   न मुह्येदर्थकृच्छ्रेवषु न च धर्मं परित्यजेत्।। म० भा०, व० व, 207/43
3. वृत्तं यत्ने संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
   अक्षीणों वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।। म० भा०, उ० प, 36/30
4. श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराहिणकम।
   न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्।।
   म० भा०, शा० प, 175/15

सोचता है कि यह काम तो मैंनें कर लिया इस काम को अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हदतक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है। इस प्रकार मनसूबे बाँधने में लगे हुए उस मनुष्य को मृत्यु लेकर चल देती है।[1]

(2) वाल्मीकि रामायण का मत :– वाल्मीकिरामायण में बताया गया है कि वस्तुतः एक तरफ जिस में सब हो पर धर्म न हो और एक तरफ जिस में केवल धर्म हो और कुछ न हो तो केवल 'धर्म' का पक्ष ही ग्रहण कर उसी का अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि अर्थपरायण प्राणी अकारण ही सब का द्वेषी वन जाता है और भोग परायण कामी की कोई प्रशंसा नहीं करता।[2] इसी प्रकार भगवती सीता राम को स्मरण दिलाती हुई कहती हैं कि धर्म से ही धन मिलता है और धर्म से ही सुख मिलता है। अधिक क्या, धर्म से सब कुछ मिल जाता है। इसी लिये सभी प्राणियों को धर्म परायण होना चाहिये।[3] धर्म का आश्रय लेकर रहने वाले पुरुष को पिता–माता तथा ब्रह्मण के लिये दिये गये

---

1. इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम।
   एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति।। म० भा०, शा० प, 277/19,20
2. यस्मिस्तु सर्वेस्युरसंनिविष्टा धर्मोयतः स्यात् तदुपक्रमेत।
   द्वण्यो भवत्यर्थपरोहि लोके कामात्मता खल्वपिन प्रशस्ता।।
   वा० रा०, अ० का, 21/58
3. धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
   धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।। वा० रा०, अ० का, 9/30

वचनों का पालन करने की प्रतिज्ञा कर के उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये।[1]

(3) **रामचरितमानस का मत :-** रामचरितमानस में भगवान् श्री राम ने कहा है कि 'यदि परलोक में और यहां (दोनों जगह) सुख चाहते हो तो मेरे वचन सुन कर उन्हें हृदय में दृढ़ता से पकड़ रखो। हे भाई! यह मेरी भक्ति का मार्ग सुलभ और सुखदायक है, पुराणों और वेदों ने इसे गाया है। ज्ञान अगम (दुर्गम) है, (और) इस की प्राप्ति में अनेक विघ्न हैं। उस का साधन कठिन है और उस में मन के लिये कोई आधार नहीं है। बहुत कष्ट करने पर कोई उसे पा भी लेता है तो वह भी भक्तिरहित होने से मुझ को प्रिय नहीं होता। भक्ति स्वतन्त्र है और सब सुखों की खान है, परन्तु सत्संग (संतो के संग) के बिना इसे नहीं पा सकते और पुण्यसमूह के बिना संत नहीं मिलते। सत्संगति ही संसृति (जन्म-मरण के चक्र) का अन्त करती है। जगत् में पुण्य एक ही है, (उस के समान) दूसरा नहीं। वह है मन, कर्म और वचन से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा करना। जो कपटरहित होकर ब्राह्मणों की सेवा करता है, उस पर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं। और भी एक गुप्त मत है, मैं उसे सब से हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि शंकर जी

---

1. संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
   न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य निष्ठता।।
   वा० रा०, अ० का, 2/21/41

के भजन बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं 'पाता'।[1] अतः जो मनुष्य मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें शंकर जी का भजन अवश्य करना चाहिये।

---

1. जौ परलोक इहां सुरत चहहू। सुतिमम बचन हृदयं दृढ़ गहहू।।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुराण श्रुति गाई।।
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मम कहुं टेका।।
करत कण्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ।।
भक्ति सुतन्त्र सफल सुख खानी। बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी।।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत्संगति संसृति कर अंता।।
पुन्य एक जग महुँ नहीं दूजा। मन क्रम बचन बप्रपद पूजा।।
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा।।
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।।
रा० च० मा० 7/45/1-8,45

तृतीय अध्याय
धर्म के स्रोत

तृतीय अध्याय

धर्म के स्रोत

गौतम के अनुसार वेद धर्म के आधार हैं और वेद के समान ही उन को जानने वालों की स्मृति और उनके आचरण को भी प्रामाणिक समझना चाहिये। महाभारत में वेद, स्मृति और सदाचार को धर्म से सम्बन्धित बताया गया है। महर्षि वसिष्ठ ने श्रुति और स्मृति को धर्म का आधार माना है, और वेदों को भी धर्म का आधार बताया है। मनुजी ने धर्म के लक्षण और आधार के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि समग्रवेद, स्मृति, वेदवेत्ताओं के शील और आचार तथा धार्मिक संत-सज्जनों के आत्मसंतोष – ये धर्म के मूल आधार हैं।

1. वेद-श्रुति
2. स्मृति
3. सदाचार
4. और आत्मतुष्टि – ये साक्षात् धर्म के स्रोत एवं लक्षण हैं।[1]

---

1. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
   एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। म० स्मृ०, 2/12

(क) धर्म के आदि स्रोत वेद

ऋग्वेद में कहा गया है– 'मिलकर चलो और मिल कर बोलो'।[1] जिस व्यक्ति ने जन्म लिया है, वह जीवन को सुन्दर बनाने के लिये उत्पन्न हुआ है। वह जीवन–संग्राम में लक्ष्य–साधक के हेतु अध्यवासाय करता है। धीर व्यक्ति अपनी मनन शक्ति से कर्मों को पवित्र करते हैं और विप्रजन दिव्य भावना से वाणी का उच्चारण करते हैं।[2] उत्तम ज्ञान के अनुसन्धान की इच्छा करने वाले व्यक्ति के सामने सत्य और असत्य दोनों प्रकार के वचन परस्पर स्पर्धा करते हुए उपस्थित होते हैं। उन में से जो सत्य है, वह अधिक सरल है। शान्ति कीं कामना करने वाला उसे चुन लेता है और असत्य का परित्याग करता है।[3] जो मनुष्य सत्य ज्ञान के उपदेश देने वाले मित्र का परित्याग कर देता है, उस के वचनों को कोई नहीं सुनता। वह जो कुछ सुनता है, मिथ्या ही सुनता है। वह सत्यकार्य के मार्ग को नहीं जानता।[4] अन्न की कामना करने वाले निर्धन

---

1. 'सं गच्छध्वं सं वदध्वम।' ऋ० वे० 10/191/2
2. जातो यायते सुदिनत्वे अहनां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
   पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्।। ऋ० वे०, 3/8/5
3. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
   त्यार्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्। ऋ० वे०, 7/104/12
4. यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
   यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।। ऋ० वे०, 10/71/6

याचक को जो अन्न देता है, वही वास्तव में भोजन करता है। ऐसे व्यक्ति के पास पर्याप्त अन्न रहता है और समय पड़ने पर बुलाने से, उस की सहायता के लिये तत्पर अनेक मित्र उपस्थित हो जाते हैं।[1] नरों (मर्दों) ने सत्य का ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है'।[2] 'वह मित्र ही क्या, जो अपनो मित्रों को सहायता नहीं देता'।[3] 'देवताओं के नियम को तोड़ कर कोई सौ वर्ष नहीं जी सकता'।[4] 'हे प्रभु! हम लोगों में सुख और कल्याणमय उत्तम सङ्कल्प, ज्ञान और कर्म को धारण कराओ'।[5] 'हे एक विचार और एक प्रकार के ज्ञान से युक्त मित्रजनो, उठो! जागो'!।[6] 'देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्त को चाहते हैं, आलसी से प्रेम नहीं करते।'[7]

यजुर्वेद में बताया गया है कि 'प्रभो! हमारी संतान का कल्याण करो।[8] 'उस ब्रह्म (प्रभु) को जान कर ही मनुष्य मृत्यु को लाँघ जाता है'।[9] 'जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है।

---

1. स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
   अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।। ऋ० वे०, 10/117/3
2. सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः। ऋ० वे०, 4/33/6
3. न स सखा यो न ददाति सख्ये। ऋ० वे०, 10/117/4
4. न देवानामति ब्रंत शतात्मा च न जीवति। ऋ० वे०, 10/33/9
5. भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि। ऋ० वे०, 1/123/13
6. उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः। ऋ० वे०, 110/101/1
7. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। ऋ० वे०, 8/2/18
8. शं नः कुरु प्रजाभ्यः। य० वे०, 36/22
9. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति। य० वे०, 31/18

सोना (आलस्य) दरिद्रता का मूल है'।[1] 'हम सौ वर्षों तक दीनता रहित होकर जीयें'।[2] 'मेरा मन उत्तम सङ्कल्पों वाला हो'।[3] सामवेद में कहा गया है– 'हमारी बुद्धि कल्याणकारी हो।'[4] 'हाथों के कौशल से श्रेष्ठ का निर्माण करे।'[5] 'आप की मित्रता निरन्तर विद्यमान रहे'।[6] 'आप की कुशलता हमारी सुरक्षा करे'।[7]

अर्थवेद में कहा गया है कि 'उस आत्मा को ही जान लेने पर मनुष्य नहीं डरता'।[8] 'अन्धकार (अविद्या) से निकल कर (ऊपर उठकर) प्रकाश (ज्ञान) की ओर बढ़ो'।[9] 'पुरुष (मर्द)! तेरे लिये ऊपर उठना है, न कि नीचे गिरना'।[10] 'उन्नत होना आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य है'।[11] 'ब्रह्मचर्यरुपी तपोबल से ही विद्वान् लोगों ने मृत्यु को जीता है'।[12] 'मेरे दाहिने हाथ में कर्म–पुरुषार्थ है और सफलता बायें हाथ में रखी हुई है'।[13] 'भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृ

---

1. भूत्यै जागरणम् अभूत्ये स्वपनम्। य० वे०, 30/17
2. अदीनः स्याम शरदः शतम्। य० वे०, 36/24
3. तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु। ये० वे०, 64/1
4. भद्रा हिनः प्रमतिः। सा० वे०, 66
5. हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्। सा० वे०, 72
6. स्व ँ सख्यमाविथ।। सा० वे०, 108
7. तवेद ँ सख्यमस्तृतम्।। सा० वे०, 229
8. तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः। अ० वे०, 10/8/44
9. आ रोह तमसो ज्योतिः। अ० वे०, 8/1/8
10. उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। अ० वे०, 8/1/6
11. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। अ० वे०, 5/30/7
12. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाहनत। अ० वे०, 11/7/19
13. कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहितः अ० वे०, 7/52/8

भूमि का पुत्र हूँ'।[1] 'हम लोग ऋणरहित होकर परलोक के सभी मार्गों पर चलें'।[2] 'सैकड़ो हाथों से इकट्‌ठा करो और हजारों हाथों से बाँटो'।[3] 'मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो'।[4] 'हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो'।[5] 'ब्रह्मचर्यरूप तप के द्वारा राजा राष्ट्र का संरक्षण करता है'।[6] 'मुझे कल्याण की प्राप्ति हो और किसी प्रकार का भय न हो'[7]

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है- कि धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं है। इस लिये जिस प्रकार राजा की सहायता से (प्रबल शत्रु को भी जीतने की शक्ति आ जाती है) उसी प्रकार धर्म के द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान् को जीतने में समर्थ हो जाता है। वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है। इसलिये सत्य बोलने वालों को कहते हैं कि 'यह धर्ममय वचन बोलता है' तथा धर्ममय वचन बोलने वालों से कहते हैं कि 'यह सत्य बोलता है' क्योंकि ये दोनों धर्म ही हैं।[8] तैत्तिरीयोपनिषद् में वेद का अध्ययन कराकर आचार्य शिष्य

---

1. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। अ० वे०, 12/1/12
2. सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम। अ० वे०, 6/117/3
3. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। अ० वे०, 3/24/5
4. परैति पृत्युरमृतं न एतु। अ० वे०, 18/3/62
5. सर्वमेव शमस्तुनः। अ० वे०, 19/9/14
6. ब्रह्मचर्मेण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। अ० वे०, 19/4/14
7. शं मे अस्त्वभयं में अस्तु। अ० वे०, 5/1/7
8. धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीया ँ समाशँ सते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म वदतीति धर्म वा वदन्त ँ सत्यं वदतीत्येतद्ध्ययेवैतदुभयं भवति।। बृहदा० उप०, 1/4/14

को शिक्षा देते हैं कि सत्य बोलो! धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। आचार्य के लिये प्रिय धन लाकर दो। संतान–परम्परा का उच्छेद मत करो। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। आरोग्यादि शरीर की कुशलता से प्रमाद नहीं करना चाहिये। विभूति से प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने–पढ़ाने से प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकर्म और पितृ–कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये।[1] माता को देवता के समान पूजने वाले हो। देव के समान पिता का पूजन करने वाले हो। देव के समान आचार्य को पूजने वाले होओ। अतिथि को देव तुल्य समझने वाले बनो जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं का सेवन करना चाहिये। अन्य दोष युक्त कर्मो का परित्याग करना चाहिये। जो हमारे आचार्यो के सुन्दर आचरण हैं, वे तुम्हें नियमपूर्वक अपनाने चाहिये, दूसरे कर्म (शाप देना आदि) यदि आचार्य करे तो भी तुम्हें नहीं करने चाहिये। आर्थिक स्थिति के अनुसार श्रद्धा पूर्वक दान देना चाहिये। बिना श्रद्धा के नहीं और जो कुछ भी दिया जाये, वह सब विवेक पूर्वक देना चाहिये।[2] असत्य से मुझे सत्य

---

1. वेदमनुच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। तै० उप०, 1/11/1
2. मातृदेवो भव। पितृ देवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्ययोपास्यानि। नो इतराणि। तै० उप, 1/11/2

की ओर ले चलो, अँधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से मुझे अमृतकी ओर ले चलो।[1] जिस आत्मा को मनुष्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त करता है, वह आत्मा नष्ट नहीं होती।[2] बृहदारण्याकोपनिषद् में बताया गया है कि सब की कामना के लिये ही सब प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना के लिये ही सब प्रिय होते हैं। अरे! आत्मा को देखना चाहिये, सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये, ध्यान करना चहिये। हे मैत्रेयी! आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने और जानने से यह सब जान लिया जाता है।[3]

(ख) स्मृतिः "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रे तु वै स्मृतिः"– इस शास्त्रवचन से सिद्ध होता है कि स्मृतिग्रन्थ ही हमारे धर्मशास्त्र हैं। परम करुणावान् ऋषिमुनियों द्वारा लिखित 'मनुस्मृति' 'याज्ञवल्क्य स्मृति' 'वसिष्ठस्मृति' और 'कपिलस्मृति' आदि अनेक स्मृतिग्रन्थ प्राप्त हैं।

मनुष्य धर्म का मर्म समझ सके, शुद्ध आचरण का महत्त्व जान सके, पाप पुण्य, नीति–अनीति को पहचानने की सामर्थ्य प्राप्त कर सके तथा देव, पितृ, अतिथि, गुरु आदि के प्रति अपना कर्त्तव्य समझे एवं अपने

---

1. असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृत गमय। बृहदा० उप, 1/3/28
2. एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते। छा० उप, 8/5/3
3. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदँ सर्वं विदितम्।। बृहदा० उप, 4/5/6

कर्त्तव्य–पथपर बढ़ता रहे–यह स्मृतिग्रन्थों का प्रधान उद्देश्य है।

वाधूलस्मृति में कहा गया है कि वास्तव में श्रुति–स्मृति आदि भगवान् की आज्ञा है, किसी मनुष्य की नहीं। भगवान् कहते है कि श्रुति अर्थात् वेद और मन्वादि स्मृतियाँ मेरी ही आज्ञा हैं। आज्ञा का पर्यायवाची शब्द है– शास्त्र।[1]

महर्षि पराशर ने लिखा है कि भगवान् ने श्रुति और स्मृति रूप जो आज्ञा दी है, वह हमारे हित के लिये दी है, और यही सम्पूर्ण विश्व का शासन–विधान भी है– 'शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्'। जब छोटे–से–छोटे राष्ट्र के संचालन के लिये भी शासन विधान की आवश्यकता होती है, तब सम्पूर्ण विश्व के संचालन के लिये ईश्वर को विधान बनाना ही पड़ता है। उसी शासन–विधान का नाम है– 'शास्त्र'। इस लिये भगवान् मनु ने वेदको 'विधान' शब्द से भी प्रतिपादित किया गया है।[2]

आचार्य वसिष्ठ ने द्रव्यों की शुद्धि बताते हुए अन्त में कहा है कि शरीर की शुद्धि जल द्वारा स्नान करने से, मनकी शुद्धि सत्य–धर्म का पालन करने से, जीवात्मा की शुद्धि विद्या और तप से तथा बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है।[3]

---

1. 'श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञे' वा० स्मृ०, श्लो, 189
2. 'त्वमे को ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।' म० स्मृ०, 1/3
3. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येत शुध्यति।
   विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। वसि० स्मृ०, 3/56

महर्षि आपस्तम्ब जी धर्मोपदेश का सार अंश बताते हुए कहते है कि जो संसार के पदार्थों में, इन्द्रियों के विषयों में राग नहीं रखता अर्थात् अनासक्त भाव से स्थित रहता हुआ धर्माचरण करता है, प्रयत्नपूर्वक अध्यात्मशास्त्र, योगशास्त्र में एकनिष्ठा रखता है और नित्य अंहिसा व्रत में तत्पर रहकर मन, वाणी, कर्म से किसी भी प्रकार की हिंसा न करता हुआ सभी प्राणियों के कल्याण में प्रयत्नरत रहता है एवं केवल स्वाध्याय तथा योगमार्ग का समाश्रयण करता है, वही व्यक्ति, वही साधक सच्चे अर्थों में मुक्ति को प्राप्त करता है भगवान् को प्राप्त कर लेता है।[1]

महर्षि पराशर संसर्गजनित पापों की शुद्धि का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि पापी के साथ एक आसन पर बैठने से, उसके साथ 'शयन करने से, उसका साथ करने तथा उस के साथ गमन करने से, बोलने से अथवा उस के साथ भोजन करने से, पाप लिप्त हो जाते हैं। इस संसर्गजनित पाप की निवृत्ति के लिये गोव्रतका पालन करना चाहिये। गौओं की सेवा करनी चाहिये, उनका अनुगमन करना चाहिये, जैसे गौ प्रसन्न रहे वैसे ही प्रयत्न करना चाहिये, इससे सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते

---

1. मोक्षो भवेत् प्रीतिनिवर्तकस्य अध्यात्मयोगैकरतस्य सम्यक्।
मोक्षो भवेन्नित्यमहिंसकस्य स्वाध्याययोगागतमानसस्य।। आ० स्मृ०, 10/7

हैं।[1] महर्षि अत्रि दान के विषय में कहते हैं कि जो मनुष्य कृष्णमृगचर्मपर तिल, मधु और घी को यथाविधि स्थापित करके ब्राह्मणों को श्रद्धा पूर्वक दान देता है, वह सारे पाप समूहों से मुक्त हो जाता है।[2]

व्यासस्मृति में तीर्थ की महिमा के विषय में बताया गया है कि माता और पिता ही प्रधान तीर्थ हैं, यद्यपि गंगा और गौ यह भी तीर्थ हैं परन्तु ब्राह्मणों से बढ़कर तीर्थ न हुआ और न होगा।[3] विष्णु स्मृति में कहा गया है कि जो लोक वेद, विषय, इन्द्रिय, इन को त्याग कर आत्मा के विषय में ही स्थित रहता है, वह परमपद को प्राप्त होता है।[4]

शंखस्मृति में छः प्रकार के स्नान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियाङ्ग, मलकर्षक तथा क्रिया स्नान ये छः प्रकार के स्नान हैं। प्रातः किया जाने वाला स्नान नित्य स्नान है। रजस्वला, शव, तथा अन्य प्रकार के अस्पृश्य के स्पर्श हो जाने पर जो स्नान किया जाता है, वह नैमित्तिक स्नान है। पुण्यआदि नक्षत्रों के समय देवज्ञद्वारा बोधित जो स्नान है, वह काम्य स्नान

---

1. गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम।। परा० स्मृ०, 12/72
2. सर्व तरति दुष्कृतम्।। अ० स्मृ०, 6/11
3. मातापित्रो परं तीर्थ गंगा गावो विशेषतः।
   ब्रह्मणात्परमं तीर्थ न भूतं न भविष्यति।। व्या० स्मृ०, 4/12
4. त्यक्त्वा लोकांश्च वेदाश्चं विषयानिन्द्रियाणि च।। आत्मन्येव स्थितो यस्तु प्राप्तोतिपरमं पदम्।। वि० स्मृ०, 4/35-36

कहलाता है। पवित्र मन्त्रों के जप के लिये, देवता और पितरोंके पूजन आदि में जो क्रियाङ्गभूत स्नान होता है, वह क्रियाङ्ग स्नान कहलाता है। अभ्यङ्गपूर्वक केवल मलापकर्षण के उद्देश्य से जो स्नान होता है, वह मलकर्षक स्नान कहलाता है तथा तीर्थों, नदियों, तालाबों एवं कुंडोमें पुण्यार्जन की दृष्टि से जो स्नान होता है, वह क्रिया स्नान कहलाता है। सभी तीर्थ–स्थान पुण्यप्रद और पापों का नाश करने वाले हैं, उनमें भी गङ्गा की विशेष महिमा है।[1]

(ग) सदाचार वेदों तथा स्मृतियों में कहा गया आचार ही परम धर्म है।[2] क्योंकि 'आचार से धर्म प्रकट होता है और धर्म के स्वामी भागवान् विष्णु हैं। अतः जो अपने आश्रम के आचार में संलग्न है, उस के द्वारा भगवान् श्री हरि सर्वदा पूजित होते हैं।'[3] मनुष्य का प्रथम धर्म आचार ही है, जिस आचार विचार से देवी गुणों की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि हो, उसे 'सदाचार' कहा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा शास्त्र सम्मत सदाचार का पालन होता है, जिस का अनुकरण समाज के अन्य लोग करते हैं। 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च' –इस संसार में दो प्रकार

---

1. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम्
क्रियास्नानं तथा षष्ठं षोढ़ा स्नानं प्रकीर्तितम्।।
अस्नातः------- स्नानं तत्र महाक्रिया।।
सर्वे प्रस्रवणाः पुण्याः ----- तु विशेषतः।। शं स्मृ०, 8/1–7,14
2. आचारः परमो धर्मः वसि० स्मृ०, श्लो० 166
3. आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः।
आश्रमाचारयुक्तेन पूजितः सर्वदा हरिः।। ना० पु०, पूर्व०, ख, 4/22

के जीव हैं– 1. दैवी–गुण सम्पन्न 2. आसुरी–वृत्तिसम्पन्न। देवी–गुण स्वर्ग की ओर ले जाता है और असुरों का मार्ग कष्ट एवं नरक की ओर जाता है। इस लिये शास्त्रों का उपदेश है–

रामादिवद् वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्। अर्थात् राम के समान आचरण करना चाहिये न कि रावण के समान। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। अपने सद्‌गुण, सदाचार, विनय, शील, उदारता आदि गुणगणों से उन्हों ने श्रेष्ठतम राम राज्य की स्थापना की और 'मातृदेवो भव पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव' की शिक्षा हमें प्रदान की। वे धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप हैं– 'रामो विग्रहवान् धर्मः।' उन्हों ने भाई भरत के लिये राज्य का सहर्ष त्याग किया और भरतजी ने भी विधि सम्मत प्राप्त राज्य को बड़े भाई राम के लिये त्याग दिया उस पर गुरु वसिष्ठ जी को कहना पड़ा–

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई।।

सदाचार ईश्वर से मधुर सम्बन्ध बनाने हेतु मुख्य धर्म सेतु है। सदाचार के पालन से जीव के अनर्थों की निवृत्ति होती है, जीवन में सुख, मङ्गल तथा कल्याण की प्राप्ति होती है। सदाचार का पालन मरने के बाद भी यश–कीर्ति प्रदान करने वाला होता है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति'– जिस की कीर्ति होती है, वह मरकर भी अमर रहता है। सदाचार रूप धर्म–पालन से रक्षा होती है– 'धर्मो रक्षति रक्षितः'।

मनुने सदाचार को धर्म का स्वरूप माना है। जिस समाज में सदाचारीका आदर होता है, वह समाज उन्नतिशील होता है। समाज की सच्ची सेवा सद्गुणी के द्वारा ही होती है। अनैतिक कार्य करने वाले अधर्मी व्यक्ति कुछ समय के लिये भले ही पनपते दीखते हों, लेकिन अन्त में उनका समूल विनाश हो जाता है।

भगवान् मनु ने कहा है कि अधार्मिक व्यक्ति पहले बढ़ता हुआ दिखायी देता है, उस का कल्याण-मङ्गल भी होता दीखता है तथा उस ने अपने शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त कर ली- ऐसा आभास होता है, किन्तु अन्त में उसका समूल विनाश हो जाता है, अतः अधर्म से अभ्युदयकी प्राप्ति जो दीखती है, वह मिथ्या ही है, अतः व्यक्ति को ऐसे विनाशकारी अधर्माचरण से बचते हुए सदाचार-सम्पन्न होने का ही प्रयत्न करना चाहिये।[1]

सदाचार-सम्पन्न लोग कष्ट में चाहे जितने दीखें, लेकिन उनका भीतरी मन सद्गुणों के कारण प्रसन्न रहता है और अन्त में समाज को उनका आदर करना पड़ता है। भगवान् ने गीता में कहा है- कि कल्याण कार्य में लगा व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।[2] कठोपनिषद् में श्रेय एवं प्रेय-मार्गका सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है। श्रेय मार्ग सदाचारी को विष्णुपद प्राप्त कराने वाला कहा गया है और प्रेय-मार्ग

---

1. अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्रणि पश्यति।
   ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।। म० स्मृ०, 4/174
2. न हि कल्याणकृतकश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।। भ० गी०, 6/40

को क्षणभङ्गुर, अनित्य, इन्द्रिय-विषयों के सुख की ओर ले जाने वाला बताया गया है, जिससे कालान्तर में मनुष्य का पतन हो जाता है।[1]

संसार त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज, तम-मिश्रित गुणों से सभी जीव मोहित हो रहे हैं। सत्त्वगुण मोक्ष का हेतु है, जो मनुष्य को ऊर्ध्वगामी बनाता है और रज तथा तम आसुरी-भावकी ओर ले जाते हैं।[2]

मनुष्य की मानसिक गति दो प्रकार की होती है- 1. पुरोगामी 2. प्रतिगामी। जो मनुष्य सोच-समझकर स्वधर्म का पालन करता है, वह पुरोगामी बनता है, उन्नति के मार्ग पर सदैव आगे बढ़ता है। जो बिना सोचे-समझे कार्य करता है, वह प्रकृति के द्वारा पीछे धकेल दिया जाता है और अवनति की दशा को प्राप्त होता है। अतः यदि हम आगे नहीं बढ़ेंगे तो प्रकृति हमे दण्ड देगी, हम स्वयं आत्मा के शत्रु बन जायँगे। राग, द्वेष आदि षड्विकारों में लिप्त हो जायँगे। ये विकार उन्नति-पथ के शत्रु हैं, जो पथिक को सन्मार्ग से हटाकर कुमार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

धर्माचरण-सदाचार का पालन, त्याग, तपस्या एवं तपोवन-सेवन भारतीय संस्कृति के आर्दश हैं। हमें सद्गुणों

---

1. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यततस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।
कठ, उप, 1/1/8

2. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जधन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। भ० गी०, 14/18

से प्रेम करना चाहिये, उन्हें अपनाना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि धर्म का सार-सर्वस्व यही है कि जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे, वही व्यवहार दूसरों के प्रति करना कर्त्तव्य है। जो अपने प्रतिकूल हो वैसा आचरण दूसरों के प्रति कदापि न करे।[1]

आज के इस संक्रान्ति युग में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'-का उद्घोष करना है। हमारे ऋषियों ने जो सदाचार, नैतिकता, आध्यात्मिकता की शिक्षा विश्व को दी है, उसे आज पुनः जाग्रत् करना है, क्योंकि तप-त्याग से हमारी सोई हुई आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं। संतोष, शान्ति तथा सदाचार का पालन हमें पूर्णता की ओर अग्रसर कराते हैं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-का बोध कराते हैं और स्वार्थ तथा संकीर्णता के त्याग की शिक्षा देते हैं। स्वार्थ मनुष्य को बौना-छोटा बनाता है। उदारता तथा विनयशीलता-ये सद्गुण परम-सुख की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं, जिससे मानवमात्र का विकास होता है।

वेदों में मनुष्यों को-'अमृतस्य पुत्राः' कहा गया है। साथ ही उसे 'तन्न मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' की पावन शिक्षा दी गयी है। गायत्री-मन्त्र में बुद्धि के निर्मल होने की प्रार्थना हैं ऋषिप्रणीत धर्मो के दृढ़पालन से हम तेजस्वी बनते हैं। हमारा जीवन दिव्य एवं परोपकार के कर्म करने

---

1. द्रष्टव्य जी० च० अं० पृ० 175

से हमारी अन्तरात्मा शुद्ध एवं पवित्र होती है। हम ब्रह्मसाक्षात्कार के योग्य बनते हैं।

पुरुषार्थ के द्वारा हम अपने अंदर श्रद्धा तथा विश्वास को जाग्रत करते हैं। सदाचारी, मनस्वी, धर्मव्रती–उत्साह सम्पन्न ही असम्भव कार्य को भी सम्भव कर दिखाता है, पत्थर में भगवान् प्रकट करा देता है। नीति वचन है–

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

अर्थात् महापुरुषों की क्रियासिद्धि उनके तेजपर ही निर्भर करती है, साधनोंपर नहीं। अतः योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, महात्माओं द्वारा निर्दिष्ट पथका अनुसरण एवं अनुगमन करना ही हमारा परम पवित्र धर्म है और ऐसे ही सज्जनों द्वारा शास्त्र–मर्यादा से अनुपालित धर्म ही सदाचार है।

आज विश्व में तनाव, कुंठा, युद्ध की विभीषिका चारों ओर परिलक्षित हो रही है। ऐसे कठिन समय में भारत ही विश्व को शान्ति सुख एवं आनन्द का मार्ग दिखा सकता है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकता आज के युग की माँग है अध्यात्म – ज्ञान से ही समाज, देश, राष्ट्र एवं विश्व का परम कल्याण होगा, यह ध्रुव सत्य हैं। अतः हम सभी को शुद्ध सदाचार–सम्पन्न होने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। सदाचार की प्रशंसा करते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि 'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष इन छः अंगों सहित अध्ययन किये हुए वेद भी आचारहीन

मनुष्य को पवित्र नहीं करते। मृत्युकाल में आचार हीन मनुष्य को वेद वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे पंख उगने पर पक्षी अपने घोंसले का त्याग करते हैं।[1]

(घ) आत्म (अन्तः करण) तुष्टि : 'मन और इन्द्रियों के संयमरूप तप से सत्त्व (शुद्ध अन्तः करण) की, सत्त्व से मन (विचार–शक्ति के विकास) की और मन से आत्मा (आत्मज्ञान) की प्राप्ति होती है तथा आत्मज्ञान से अज्ञानरूपी आवरण निवृत्त हो जाता है।'[2] 'आहार–शुद्ध होने पर अन्तः करणकी शुद्धि होती है, अन्तः करण की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है एवं स्मृति की प्राप्ति होने पर संपूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है।'[3]
अभिप्राय यह है कि प्राणीमात्र में चित्त का निवास है, कार्य भेद से उस के मन और बुद्धि में दो विभाग हो जाते हैं। सङ्कल्प– विकल्पात्मिका वृत्ति को मन और निश्चयात्मिका वृत्ति को 'बुद्धि' संज्ञा दी गयी है। बुद्धि को मति, विचार–शान्ति, ज्ञान–ग्राहिणी वृत्ति तथा क्रिया भेद से स्मृति, मेधा आदिनाम भी दिये जाते हैं। मन और बुद्धिका शरीर के साथ घनिष्ठ संम्बन्ध है, ऐसा प्रत्येक मनुष्य को अनुभव

---

1. आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
   छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।।
   वसि० स्मृ०, श्लो०, 168
2. तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् सम्प्राप्यते मनः।
   मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मा पत्त्या निवर्तते।। सा० अं०, पृ०, 23
3. आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
   स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। छा० उप, 7/26/2

होता है। जिनती भी शारीरिक क्रियाएँ होती हैं, उन सब के शुभाशुभ संस्कार (बासना) चित्रपर जम जाते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर मन-बुद्धि के कार्य का प्रभाव शरीर पर पड़ता रहता है। जैसे मानसिक प्रसन्नता होने पर मुख प्रफुल्लित और तेजस्वी प्रतीत होता है, चिन्ताग्रस्त होने पर शरीर निस्तेज और निर्बल हो जाता है, क्रोध की उत्पत्ति होने पर रक्तविषमय बन जाता है, हिताहित का विचार विस्मृत हो जाता है और लोभ का उदय होने पर धर्म-अधर्म का विवेक दूर हो जाता है। इस ब्रह्मतत्त्व में सत्, चित, आनन्द, ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनेक शक्तियां विद्यमान हैं।[1] तात्पर्य यह है कि वे ही सृष्टिकाल में मलिन सी होकर मन के भीतर प्रतीत होती हैं। क्योंकि यह अविचल नियम हैं कि 'कारणगुणाः कार्ये सङ्क्रामन्ति' अर्थात् कारण में रहने वाले गुण धर्म या शक्ति कार्य में सहज ही उतर आते हैं। परंब्रह्म की शक्तियों का मन और तन में प्रवेश हो ही जाता है- इस बात को भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के 'इन्द्रियाणां मनास्मि भूतानामस्मि चेतना' इस वचन के द्वारा स्पष्ट कर दिया है अतः मनकी जो शान्त साम्यावस्था है, वह परब्रह्म की सामन्यावस्था (सत्-शक्ति) के साथ सम्बन्ध रखने वाली है। मन में रहनेवाली विचार-शक्ति

---

1. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। श्वे० उप, 6/8
ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।। वि० पु० 1/12/69

और ब्रह्म के चिदंश (चतेना शक्ति) को प्रकाशत्वरूप गुण समान होने के कारण दोनों की एकता जानी जाती है। अतः मनुष्य की विचार-शक्ति का विकास चिदंश के साथ एकता के द्वारा ही हो सकता है। मन की संवेदना शक्ति और ब्रह्म के आनन्द अंशका घनिष्ठ सम्बन्ध भी अनुभव में आता रहता है। इसी प्रकार मन की कर्तृत्वशक्ति (इच्छा और प्रेरणावृत्ति) तथा ब्रह्म की बल-शक्ति एवं शरीर की क्रिया और ब्रह्म मे रहने वाली क्रिया शक्ति भी तत्त्वतः एक ही है। मतलब यह कि मानसिक शक्तियाँ परब्रह्म की सत्, चित्, आनन्द आदि शक्तियों से पृथक नहीं हैं। अतः मनुष्य जितना परब्रह्म के साथ सहयोग रक्खेगा, उतना ही अपनी शक्तियों को उन्नत कर सकेगा क्योंकि वह प्राणिमात्र के अन्तः करण में अवस्थित होने के कारण अन्तरात्मा एवं सृष्टि का नियम करने तथा सब प्रकार की शक्तियां युक्त होने के कारण ईश्वर और परमेश्वर कहलाता है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म ही जीवात्मारूप से भासमान हो रहा है, समस्त संसार ब्रह्मरूप है और अन्तः करण में स्थित आत्मा भी ब्रह्मरूप ही है- इस असन्दिग्ध ज्ञान का उदय विचार-शक्ति के द्वारा ही होता है। जब यह ज्ञान संशय रहीत और दृढ़ हो जाता है, तब जीव जीवनमुक्त होकर विचरता है और अन्त में उसी तत्त्व में

लीन हो जाता है। वह फिर संसार-चक्र में नहीं फंसता अर्थात् मुक्त हो जाता है।[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है कि उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से भी भयभीत नहीं होता। उस विद्वान् को "मैंने शुभ क्यों नहीं किया, पापकर्म क्यों कर डाला"-इस प्रकार की चिन्ता सन्तप्त नहीं करती। उन्हें (ये पाप और पुण्य ही ताप के कारण हैं) इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् अपनी आत्मा को प्रसन्न अथवा सबल करता है, उसे ये दोनों आत्मास्वरूप ही दिखाई देते हैं। (वह कौन है?) जो इस प्रकार (पूर्वोक्त अद्वैत आनन्दस्वरूप ब्रह्म को) जानता है। ऐसी यह उपनिषद् विद्या है।[2]

शास्त्रकारों का कथन है कि आत्माकीप्रियता धर्म में प्रमाण तो है, किन्तु वह प्रियता सदाचार के अनुकूल होनी चाहिये। अतः ऋिषि मुतियों ने कहा है कि सर्वप्रथम वेद अथवा श्रुति में जो कहा गया हो उस के अनुसार चलना चहिये। जब वह उपलब्ध न हो तब स्मृति अथवा धर्मशास्त्र पर चलना चाहिये परन्तु ऐसा भी संभव न होने पर सदाचारी महापुरुषों के कथनों का अनुसरण करना चाहिये। यदि इन तीनों विकल्पों में से कोई भी उपलब्ध न हो तो ऋषि विश्वामित्र कहते हैं कि अन्तरात्मा का अनुसरण

---

1. सर्वकर्मा वर्सकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः। छाँ० उप, 3/14/4
2. यतो वाचो ------ आत्मान ँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।। तै० उप, 2/9/1

करना चाहिये। अर्थात् उस समय अन्तरात्मा की जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वही धर्म है।

चतुर्थ अध्याय
धर्म के प्रकार

चतुर्थ अध्याय

धर्म के प्रकार

1. **सामान्यधर्म** : सामान्य धर्म वह है कि जिस का आचरण मनुष्यमात्र प्रत्येक समय कर सकते हैं और जिस के पालन किये बिना केवल वर्ण या आश्रम धर्म से पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि वर्णाश्रम धर्म सामान्य धर्म की अपेक्षा कम महत्त्व की वस्तु है यह उपेक्षणीय है तथा यह बात भी नहीं है कि वर्णाश्रम धर्म में सामान्य धर्म का समावेश ही नहीं है सामान्य धर्म इसलिये विशेष महत्त्व रखता है कि उस का पालन सब समय और सभी कर सकते हैं परन्तु वर्णाश्रम धर्म का पालन अपने-अपने स्थान और समय पर ही किया जा सकता है। किन्तु कुछ ऐसे सामान्य धर्म हैं, जो सभी आश्रमों वर्णों के लिए अवश्यसेवनीय हैं। पिशुनता, मात्सर्य, अभिमान, अंहकार, अश्रद्धा, अनार्जव, आत्म प्रशंसा, परनिन्दा, दम्भ, क्रोध, लोभ, मोह तथा असूया-इन सभी दोषों का सर्वथा परित्याग कर देना सभी आश्रमियों का अभीष्ट धर्म है अर्थात् अपिशुनता, अमात्सर्य, अनभिमान, अनहंकार, श्रद्धा, आर्जव, आत्मप्रशंसारहित परनिन्दारहित, अदम्भ, अक्रोध, अलोभ, अमोह तथा असूया, ये सभी वर्णाश्रमवासियों के सामान्य धर्म हैं।

सामान्य धर्म सब के लिये साधारण रूप से व्यवहार करने हेतु कुछ नियम होते हैं। जैसे भारत में सामान्य नियम है कि मार्गपर अपने बायें हाथ की और से सवारी चलायी जाये। इसी प्रकार, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि सामान्य धर्म हैं।

श्री मनु जी के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह रूप पञ्चविध धर्म को ब्राह्मणादि चारोंवर्णो के लिये इनका पालन अपेक्षित है।[1] पातञ्जल सूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम कहे है। इनका पालन चारों वर्णो के लिए अपेक्षित है।[2]

सत्य

सत्यमेव जयते नानृतम्

मानव–धर्म का महत्वपूर्ण लक्षण सत्य है। संसार के विभिन्न सम्प्रदायों मे नाना प्रकार के मतभेद रहने पर भी इस विषय में सब का मत एक है। सम्पूर्ण शास्त्रों ने सत्य की महिमा एक स्वर से गायी है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में ब्रह्म का स्वरूप सत्य बतलाया है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है–

---

1. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।। म० स्मृ1, 10/63
2. तत्र अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमः। वे० सा०, का, 200

सत्यान्न प्रमदितव्यम्।

सत्य से विचलित मत होओ।

'सत्य के समान धर्म नहीं है और असत्य के समान पाप नहीं है, धर्म सत्य के आश्रय से टिकता है, इसलिए सत्य का लोप कभी नहीं करना चाहिये। सत्य से दानका, दक्षिणायुक्त यज्ञोंका, अग्निहोत्रका, वेदाध्ययन का और अन्यान्य धर्मोंका फल मिलता है। हजार अश्वमेध यज्ञोंका फल तराजूकी एक और सत्य दूसरी ओर रखकर तौला जाए तो हजार अश्वमेध की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी रहता है'[1]

अहिंसा : अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है। अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है।[2]

अस्तेय : अस्तेय के विषय में विद्वन्मनोरञ्जिनीकार कहते हैं कि बिना दी हुई परवस्तु का अपहरण न करना अस्तेय है।[3]

---

1. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
   स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्।।
   उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
   त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः।।
   अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
   अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।। मा० ध०, पृ०, 68
2. अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
   अहिंसा परमं दानमहिसा परमं तपः।।
   अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
   अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमंसुखम्।। म० भा०, अनु० प०, 116/28-29
3. अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्। वे० सा० पृ०, 254

ब्रह्मचर्य : इन्द्रियों को किसी भी बुरे विषय की ओर न जाने देना और सदा उनको अपने वश में रखकर कल्याणकारी विषयों में लगाये रखना इन्द्रियनिग्रह (ब्रह्मचर्य) कहलाता है। मनु महाराज कहते हैं कि 'इन्द्रियों को विषयों में लगाने से मनुष्य निःसंदेह दोष को प्राप्त होता है, परन्तु उन्हीं इन्द्रियों को भलीभाँति वश में कर लेने से उसे परम सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।'[1]

अपरिग्रह : विद्वन्मनोरञ्जिनीकार ने अपरिग्रह की परिभाषा देते हुये कहा है कि समाधि के अनुष्ठान में अनुपयुक्त का संग्रह न करना अपरिग्रह है।[2] साधक को अपने पास केवल वही वस्तुएँ रखनी चाहिये जो साधन को आगे बढ़ाने में सहायक हों। अनुपयुक्त एवं साधन-विघटक सामग्री का परित्याग करना अपरिग्रह है।

शौच : शौच दो प्रकार का है, एक तो बाह्य और दूसरा आभ्यंतर, मिट्टी और जल से बाह्य शौच होता है और मन की शुद्धि से आन्तरिक शौच होता है।[3] मिट्टी और जल से होने वाला यह शौचकार्य बाहरी है, इसकी भी आवश्यकता है, किन्तु आभ्यन्तर (आन्तरिक) शौच के बिना यह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। मनोभावको शुद्ध रखना आभ्यन्तर शौच

---

1 इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति। म० स्मृ०, 2/93

2 समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्या संग्रहोऽपरिग्रहः। वे० सा०, 201

3 शौच च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यंतरं तथा।।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिथांतरम्।। द० स्मृ० 5/3

माना जाता है। किसी के प्रति ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, मोह मद-मात्सर्य, घृणा आदि के भावका न होना आभ्यन्तर शौच है।

संतोष : विद्वन्मनोरञ्जिनीकार ने संतोष के विषय में कहा है कि प्रारब्धानुसार प्राप्त वस्तु में संतोष करना एवं उसके न मिलने पर किसी प्रकार का विषाद न करना संतोष है।[1]

तप : अशना, पिपासा, शीत, उष्ण, खड़े रहना, बैठे रहना, इशारे से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना तथा वाणी का प्रयोग न करना तथा द्वन्द्वो से प्राप्त कष्टों को सहन करना कृच्छ-चान्द्रायणादि व्रतों का अनुष्ठान तप है।[2] मनु ने तो पापों के विध्वंसक प्रायश्चित्त व्रतों को स्पष्ट रूप से कहा है कि मनुष्य मन, वचन तथा काय से जो कुछ पाप करते हैं, उन सब पापों को वे तपस्वी लोग तप से ही भस्म कर देते हैं।[3]

स्वाध्याय : स्वाध्याय के महत्त्व तथा आवश्यकता पर बल देते हुये योगभाष्य में कहा गया है कि जप स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। इस दृष्टि से जप से

---

1 सन्तोषो यद्दच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः। वे० सा० पृ० 225

2. तपो द्वन्द्व सहनं द्वन्द्वश्च जिधत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकार मौने च व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छचान्द्रायण सान्तपनादीनि। यो० भा०, 2/32

3. यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः।। (मनु० 11/241)

योग का उत्कर्ष एवं योग से जप का उत्कर्ष होने से साधक के समक्ष परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।[1]

ईश्वरप्रणिधान : ईश्वरप्राणधान के विषय में श्रुति का दृष्टिकोण इस प्रकार है कि मैं मुमुक्षु सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ ब्रह्म को रचने वाले एवं उसके लिये समस्त वेदों को प्रवर्तित करने वाले, हमारी बुद्धि के प्रकाशक देव की शरण ग्रहण करता हूँ।[2] सर्वभाव से परमेश्वर की शरण में चले जाने से समाधि सुलभ एवं सिद्ध हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव-चरित्र-निर्माण के लिये उत्तम गुण और आचरणों को लक्ष्य में रखकर दैवी सम्पदा के नाम से गीता के सोलहवें अध्याय के पहले, दूसरे और तीसरे श्लोक में इस प्रकार कहा है कि 'भय का सर्वथा अभाव, अन्तः करण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिये ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का अभ्यास तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तः करण की सरलता मन, वाणी

---

1. स्वाध्यायाद योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।। यो० भा०, 1/28
2. यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। श्वे०उप०, 6/18

और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तः करण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियों में हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उन में लिपायमान न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रों से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव-ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। इनका आचरण ब्राह्मण आदि सभी वर्णो को करना चाहिए।[1]

2. विशेषधर्म : मनुष्य होने के साथ प्रत्येक मनुष्य की एक विशेष परिस्थिति भी समाज में है और उस परिस्थिति के अनुसार उस के विशेष कर्त्तव्य भी होते हैं। आप देश के सामान्य नागरिक है, इस लिये नागरिकता के सामान्य

---

1. अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। भ० गी० 16/1-3

कर्त्तव्य का पालन करना भी अनिवार्य है। इस के साथ ही आप किसी के पिता, किसी के पुत्र किसी के पति, किसी के भाई भी हैं। समाज में आप के दूसरे सैकड़ो सम्बन्ध हैं और उन सम्बन्धों के अनुसार विभिन्न कर्त्तव्य, विभिन्न दायित्व आप के हैं। उन सब का निर्वाह भी आप को करना है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी का आदर्श है। उस के पुत्र, सेवक उस का अनुकरण करते हैं। इस लिये हमारा अपना आचरण केवल हम को ही प्रभावित नहीं करता। उस का हमारे समीपस्थों, आश्रितों पर भी प्रभाव पडता है। हम दूसरों के अभ्युत्थान या पतन का भी निमित्त अपने आचरणों से बनते हैं। इस लिये हमें अपने कर्त्तव्य निर्वाह के प्रति बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है।

मनुष्य की जो समाज, परिवार, राष्ट्र में विभिन्न परिस्थिति है, उस के कारण उस के विभिन्न धर्म बन जाते हैं। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन को अपने अपने वर्णो के अनुसार। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी का धर्म अपने-अपने आश्रमों के अनुसार। पुरूष, स्त्री का धर्म अपने शरीर के अनुसार। बालक, युवा, वृद्ध का धर्म शरीर की अवस्था के अनुसार। माता, पिता, पुत्र,

भाई, बहन, मित्र, गुरु शिष्य आदि के धर्म अपने सम्बन्ध एवं स्थिति के अनुसार होते हैं।

सैनिक का धर्म एक और प्रशासक का दूसरा न्यायाधीश का धर्म इस प्रकार समाज में आप की जो स्थिति है, जहाँ जिस समय, जिस रूप में जिस पद पर आप हैं, उस के अनुसार आप का विशेष धर्म निश्चित होता है।

मुख्य रूप से विशेष धर्म के प्रकार इस तरह हैं–

(क) वर्णधर्म : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के धर्मों को संक्षेप से बताया गया है। श्री मनुजी ने कहा है कि 'उस महातेजस्वी परमात्मा ने इन सबको सृष्टि की रक्षा के लिये अपने मुख, वाहु, जंघा ओर चरणों से उत्पन्न चारों वर्णों के लिये अलग–अलग कर्मों का विधान किया है।[1]

ब्राह्मणधर्म : ब्राह्मण के लिये शील और उच्छवृत्ति सब से श्रेष्ठ है। ऐसा ब्राह्मण ऋषि के तुल्य है। जब किसान अनाज काट कर खलिहान से उसे घर पर ले आता है, उस के बाद उस खेत में वर्षा से स्वाभाविक ही जो धान्य आदि उन्पन्न होता है, उसे ले कर जीवन–निर्वाह करना अथवा

---

1. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्।। म० स्मृ०, 1/87

खेत या खलिहान में गिरे हुए धान्य आदि के दानों को बीन कर उन से निर्वाह करना 'शील' वृत्ति है एवं नगर में अनाज के क्रय विक्रय के समय जो अनाज के दाने नीचे भूमि पर गिरे रहते हैं, उन को बीन कर उन से निर्वाह करना 'उच्छ' वृत्ति है, इसे 'कपोतवृत्ति' भी कहते हैं। इन दोनों शील और उच्छ को 'ऋत' कहा गया है।

इस के अतिरिक्त ब्राह्मण के लिये जीविका की साधारण वृत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है। वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मणो के कर्म हैं, पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना–ये छः प्रकार के कर्म ब्राह्मण के लिये रचे गये है।[1] श्री मनु जी ने कहा कि इन में यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना ये तीन तो धर्म–पालन के लिये हैं और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना–ये तीन आजीविका के लिये हैं।[2] उपर्युक्त छहों कर्मों का निष्काम भाव से पालन करने पर ब्राह्मण का कल्याण हो जाता है। इन में जो दान वृत्ति है, वह बिना माँगे अपने–आप यदि दान प्राप्त हो जाय तो 'अमृत' के समान है और दान माँग कर उस से निर्वाह करना 'मृत' है अतः निन्दनीय है। यदि ब्राह्मण का ब्राह्मण के कर्मों से निर्वाह न हो तो आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य

---

1. स्वाध्यायाध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।
वसि०स्मृ०, श्लो० 66

2. षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।। म० स्मृ०, 10/76

की वृत्ति से अपना निर्वाह कर सकता है। श्रीमनु जी ने कहा है कि 'यदि ब्राह्मण अपनी जीविका से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ हो तो क्षत्रिय की वृत्तिसे जीविका करे, क्योंकि यह उस के निकट का वर्ण है एवं यदि ब्राह्मण वृत्ति और क्षत्रिय वृत्ति दोनों से भी ब्राह्मण को जीविका चलाने में कठिनता हो तो वह खेती, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्य की जीविका से निर्वाह करे।[1] किन्तु ब्राह्मण को शूद्र की वृत्ति का अवलम्बन आपत्तिकाल में भी नहीं करना चाहिये। श्री मनु जी ने ब्राह्मण के लिये ऋत आदि की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृत से अपना जीवन बितायें, परन्तु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति न करे। उच्छ और शील को 'ऋत' जानना चाहिये। बिना माँगे मिला हुआ 'अमृत' है। माँगी हुई भिक्षा मृत कहलाती है तथा खेती को 'प्रमृत' कहते हैं। वाणिज्य को 'सत्यानृत' कहते हैं उस से भी जीविका चलायी जा सकती है, किन्तु सेवा को श्ववृत्ति कहा गया है, इस लिये उस का त्याग कर देना चाहिये।'[2]

---

1. अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः।।
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षामास्थाय जीवेद् वैश्यस्यजीविकाम्।। म० स्मृ०, 10/81-82
2. ऋतामिताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन।।
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृतिराख्याता तस्मात्तं परिवर्जयेत्।। म० स्मृ०, 4/4-6

क्षत्रियधर्म : श्री मनु जी ने संक्षेप में क्षत्रिय के कर्त्तव्य कर्म इस प्रकार बतलाये हैं– कि 'प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में अनासक्ति–ये संक्षेप में क्षत्रिय के कर्म बताये गये हैं।'[1] महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा है कि क्षत्रिय के तीन कर्त्तव्य कर्म होते हैं। अध्ययन, यजन और दान देना तथा शस्त्र के द्वारा प्रजा का पालन करना उस का अपना धर्म होता है इस से वह जीवन यापन करे।[2] भगवान् ने गीता में क्षत्रिय कर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामिभाव –ये सब के सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।[3] यदि क्षत्रिय का क्षत्रिय के कर्म से निर्वाह न हो तो आपत्तिकाल में वह वैश्य की वृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करे। श्री मनु जी ने अपनी स्मृति में कहा गया है कि 'आपत्तिग्रस्त क्षत्रिय सभी पदार्थों के क्रय–विक्रय रूप पूर्वोक्त वैश्यवृत्ति से जीविका चला सकता है, किन्तु

---

1. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च।
   विष्येश्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्यसमासतः।। म० स्मृ०, 1/89
2. त्रीणि राजन्यायस्य।।
   अध्ययनं यजनं दानं शस्त्रेण च प्रजापालनंस्वधर्मस्तेन जीवेत्।।
   वसि० स्मृ, श्लो, 67–68
3. शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। भा० गी, 18/43

आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण की जीविका की अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिये।[1]

वैश्यधर्म : श्री मनु जी कहते हैं कि 'पशुओं की रक्षा, दान देना, यज्ञ कराना पढ़ना, व्यापार तथा व्याज और खेती ये सब कर्म वैश्य के लिये बताये गये हैं।[2] महर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि कृषि करना, पशुओं का पालन करना और वाणिज्य तथा कुसीद वृत्ति वैश्य के कर्त्तव्य हैं।[3] भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में वैश्य का कर्म बतलाते हुए कहा है कि 'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्यव्यवहार-ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं'।[4] अभिप्राय यह है कि खेती करना, पवित्र पदार्थों का क्रय-विक्रय रूप व्यापार करना, गौ, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओं का पालन करना एवं व्यापार में या बिना व्यापार ब्याज लेना ये वैश्य की जीविका के कर्म हैं। इन में से केवल ब्याज पर निर्भर रहना निन्दनीय है। यदि वैश्य का अपनी वैश्यवृत्ति से काम न चले तो वह आपत्तिकाल में शिल्प आदि का काम कर सकता है अथवा शूद्र-वृत्तिका अवलम्बन ले कर -सेवा कर के भी निर्वाह कर सकता है। श्री मनु जी ने कहा है कि 'वैश्य अपने धर्म से जीविका करने में

---

1 जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्।। म० स्मृ०, 10/15

2. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। म० स्मृ०, 1/90

3 एतान्येव त्रीणि वैश्यः कृषिर्वाणिज्यं पशुपाल्यं कुसीद च।।
वसि० स्मृ०, श्लो, 69

4. कृषिगौरक्ष्यवणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। भा० गी, 18/144

असमर्थ हो तो वह न करने योग्य कर्मों को छोड़ कर शूद्र की वृत्ति से भी निर्वाह कर सकता है, परन्तु समर्थ होने पर शूद्र वृत्ति को छोड़ देना चाहिये।[1] उपर्युक्त तीनों वर्णों के कर्मों में वेदाभ्यास ब्राह्मण के लिये और प्रजा का पालन क्षत्रिय के लिये एवं व्यापार कर्म वैश्य के लिये श्रेष्ठ हैं[2] अभिप्राय यह है कि यज्ञ करना, दान देना और वेदाध्ययन ये क्षत्रिय और वैश्य के लिए भी विहित हैं। इनका निष्कामभाव से पालन कर के मनुष्य सब पापों से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि 'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्त्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप–ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। इस लिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों में आसक्ति और फलों का त्याग अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'[3]

शूद्रधर्म : मनु स्मृति में बताया गया है कि 'प्रभु ने शूद्र को एक ही कर्म करने का आदेश दिया है कि वह इन

---

1. वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
   अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्।। म० स्मृ०, 1/98
2. वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
   बार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु।। म० स्मृ०, 10/80
3. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
   यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।
   एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
   कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।। भा० गी, 18/5-6

चारों वर्णों की ईर्ष्यारहित हो कर सेवा करे।[1] महर्षि वसिष्ठ ने कहा है कि शूद्र का एक ही कर्म है त्रिवर्ण की परिचर्या करना।[2] गीता में भगवान् ने कहा है कि 'सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभविक कर्म है।[3] अभिप्राय यह है कि शूद्र के लिये सब वर्णों की सेवा करना यह एक ही आजीविका का कर्म है। आपत्तिकाल में वह शिल्प वृत्ति से निर्वाह कर सकता है। श्री मनु जी ने कहा है कि 'जो शूद्र द्विजातियों की सेवा करने में असमर्थ हो और जिस के स्त्री-पुत्र क्षुधा से पीड़ित हों, वह कारीगरी से जीविका चला सकता है।'[4] किन्तु वह आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण का कर्म न करे।

(ख) आश्रमधर्म : विभिन्न अवस्थाओं के लिये विशिष्ट प्रकार के धर्म का विधान मिलने के कारण आश्रम धर्म को विशेष धर्म की संज्ञा दी गयी है। आश्रम धर्म की सुव्यवस्था मनुस्मृति में पूर्णरूप से प्राप्त होती है। जैसे प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, और सन्यासाश्रम। इस प्रकार हर एक आश्रम की अलग-अलग उपादेयता प्रदर्शित है।

---

1 एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णनां शुश्रूषामनसूयया।। म० स्मृ०, 1/91

2. एतेषां परिचर्या शूद्रस्य।। वसि० स्मृ०, श्लो, 70

3 परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। भा० गी, 18/44

4 अशक्नुवरंतु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुक कर्मभिः।। म० स्मृ०, 10/99

1. ब्रह्मचर्याश्रम : हमारे ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य को भवन की नींव माना है। क्योंकि नींव ही भवन की आधार होती है। इस लिये ब्रह्मचर्य अवस्था में विद्योपार्जन एवं शान्ति का वर्धन करना ही परम लक्ष्य है। प्राचीन वैदिक काल की मर्यादा के अनुसार बालक को यज्ञोपवीत संस्कार करा के विद्याध्ययन के लिए आचार्य कुल या गुरुकुल में भेज दिया जाता था। ब्रह्मचारी को नियम संयमपूर्वक रह कर विद्याध्ययन करना चाहिये और आलस्य प्रमाद तथा दीर्घ सूत्रतादि दोषों का परित्याग कर देना चाहिये।

मनुस्मृति में कहा गया है- ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह नित्य प्रातः काल उठ कर नित्य कर्मों से निवृत्त हो कर शुद्ध पवित्र हो कर देवता, ऋषि और परलोक वासी पितरों का तपर्ण करे तथा देवताओं की पूजा-अर्चना करे सन्ध्या - वन्दन तथा अग्निहोत्र आदि यज्ञ कार्य अवश्य किया करे।[1] वसिष्ठ स्मृति में बताया गया है कि जब गुरु अध्ययन के लिये आज्ञा देकर बुलावें तभी अध्ययन करे। जो कुछ भी प्राप्त करे वह सभी गुरु के आगे निवेदन करे और उन की आज्ञा से भोजन करे।[2] 'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलों के हार, रस, स्त्री और सिरके की भाँति वनी हुई समस्तमादक वस्तुओं का सेवन करना तथा प्राणियों की

---

1. नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्
   देवताभ्यर्चनं चैव समिधानमेव च।। म० स्मृ०, 2/176
2. आहूतध्यायी सर्व लब्धं विवेद्य तद धाज्ञया भुज्जीत।। वसि० स्मृ०,श्लो, 215

हिंसा करना आदि का ब्रह्मचारी को त्याग कर देना चाहिए।[1] विष्णु स्मृति में कहा गया है कि जो ब्रह्मचारी वेद पढ़ने में प्रसन्न और गुरु के अधीन तथा गुरु के यहां निवास करता है उसी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।[2] ब्रह्मचारी को माता पिता एवं गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिये क्योंकि माता की भक्ति से मनुष्य इस लोक को, पिता की भक्ति से मध्य लोक और गुरु की भक्ति से ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।[3]

गृहस्थाश्रम : ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थाश्रम को स्वर्ग का स्थान माना है। क्योंकि इसी आश्रम पर शेष तीनों आश्रम आधारित है गृहस्थ के घर में आए अतिथि की सेवा गृहस्थाश्रम एक बहुत बड़ी विशेषता रखता है।[4] जिस प्रकार समस्त नद एवं नदियाँ अन्त में जाकर समुद्र में मिलकर स्थिति बनाती हैं और जैसे समस्त जन्तु माता के आश्रय पर ही जीवित रहा करते हैं उसी तरह सब भैक्षवृत्ति वाले आश्रम एक—मात्र गृहस्थ का आश्रय पाकर जीवित रहते हैं।[5] विष्णु स्मृति में गृहस्थियों के विषय में कहा है कि प्रातः काल (ब्रह्ममुहूर्त में) ही उठकर शौचादि कार्य से निवृत्त

---

1 वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।। म० स्मृ०, 2/177

2. वेदस्वीकरणे हृष्टो गुर्वधीनो गुरोहितः।।
निष्ठां तत्रैव यो गच्छेन्नैष्ठिकः स उदाहृतः।। वि० स्मृ०, 2/24

3 इह लोकं मातृ भक्त्या --- ब्रह्मलोकं समश्नुते।। म० स्मृ०, 2/23

4 चतुर्णामाश्रमाणां तु गृहस्थस्तु विशिष्यते।। वसि० स्मृ० श्लो, 231

5 यथा नदीनदाः ----- जीवन्ति भिक्षवः।। वसि० स्मृ०, श्लो, 232,233

हो सदा आलस्य रहित स्नान कर संध्योपासन करें।[1] गृहस्थी को चिर काल तक गायत्री जाप काना चाहिये। दक्ष स्मृति में कहा गया है कि गृहस्थ को नित्य प्रति अपने अधिकार के अनुसार नव आवश्यक कर्म करने चाहिये– 1. संध्या 2. स्नान 3. जप 4. होम 5. स्वाध्याय 6. देवपूजन 7. बलिवैश्वदेव 8. अतिथि सेवा तथा ९. यथा शक्ति देव पितृ मनुष्य, दीन, अनाथ, तपस्वी माता–पिता एवं गुरु आदि को यथा विधि यथा योग्य भोजन तथा जलाञ्जलि से संतुष्ठ करना चाहिये।[2] शंख स्मृति में कहा गया है कि गृहस्थ में रहते हुए–नित्य पाँच प्रकार के पाप होते हैं– चूल्हा, चक्की, बहारी, औखली और जल का घड़ा– ये पाँच हिंसा के स्थान हैं,[3] इन को काम में लाने वाला गृहस्थी पाप से बँधता है।'

अतः क्रमशः उन सब से निस्तार पाने के लिये महर्षियों ने ग्रहस्थों के लिये नित्य पञ्चमहायज्ञ करने का विधान किया है। वे इस प्रकार है–

वेद पढ़ना–पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्ध–तर्पण करना पितृ यज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है,

---

1 प्रातः काले समुत्थाय कृत शौचः समाहितः।
स्नात्वा संध्यामुपासीत सर्वकालमतन्द्रितः वि० स्मृ०, 2/2

2 संध्या स्नानं जपो होमः --- संविभागे यथहितः।। द० स्मृ०, 3/8–9

3. पंचसूना गृहस्थस्य ---- तस्य पापस्य शांतये।। शं० स्मृ०, 5/1

और अतिथियों का पूजन सत्कार करना मनुष्य यज्ञ है।'[1] तात्पर्य यह है कि जो द्विज इन पञ्चमहायज्ञों को यथा शक्ति करता है वह घर में रहता हुआ भी नित्य होनेवाले हिंसा दोषों से लिप्त नहीं होता तथा जो देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा इन पाँचों को अन्न नहीं देता, वह श्वास लेता हुआ भी मरे हुए के समान ही है। यदि श्रौत या स्मार्त विधि के अनुसार नित्य अग्नि होत्र न हो सके तो भी बलिवैश्वदेव अवश्य ही करनी चाहिये। बलिवैश्वदेव करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि 'यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने से श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते है, वे तो पाप को ही खाते हैं।[2]

गृहस्थी को सत्य और न्याय पूर्वक धनोपार्जन कर के आत्म कल्याण हेतु देवताओं, पितरों, और यावन्मात्र प्राणियों की निष्काम भाव से सेवा करनी चाहिये। श्री मनु जी ने कहा है कि 'वेदोक्त विधि से अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है और सूर्य से मेघ द्वारा वर्षा होती है और वर्षा होने से अन्न पैदा होता है तथा अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है एवं अन्न से ही सब प्राणियों की तृप्ति

---

1 अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो वलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। म० स्मृ०, 3/70

2. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। भ० गी, 3/13

और वृद्धि होती है।[1]विहित गृहस्थ पुरुष पूर्वोक्त विधि से सदा पंच यज्ञों को करता रहे, उनका कभी त्याग न करे और आयु के दूसरे भागपर्यन्त (पचास वर्ष तक) गृहस्थ आश्रम में वास करे।[2] इन सभी आश्रमों में वेद और स्मृति के विधान के अनुसार चलने वाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि वही इन आश्रमों का भरण- पोषण करता है।'[3]

वानप्रस्थाश्रम : जब गृहस्थ पुरुष की पचास वर्ष की आयु पूरी हो जाए और वह यह देखे कि अब शरीर का चमड़ा ढीला पड़ गया है और केश पक गये हैं तथा पुत्र के भी पुत्र हो गया है, तब वह सम्पूर्ण ग्राम्य आहारों का और समस्त सामग्रियों का परित्याग कर के तथा अपनी पत्नी का एवं गृहस्थी का सारा भार अपने पुत्रों पर देकर वानप्रस्थाश्रम में जा सकता है। यदि स्त्री की साथ जाने की इच्छा हो तो वह भी जा सकती है। किन्तु वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करें। वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है कि वानप्रस्थी को जटा, दाढ़ी आदि बालों को और नखों को सदा धारण किये हुए स्वतः मरे हुए मृग आदि का पवित्र चर्म या वस्त्र धारण करे और ग्राम में

---

1. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्ने ततः प्रजाः।। म० स्मृ०, 3/76
2. अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयामायुषो भागं कृत दारो गृहेवसेत्।। म० स्मृ०, 5/169
3. सर्वेषाभिपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्तिहि।। म० स्मृ०, 6/89

और नखों को सदा धारण किये हुए स्वतः मरे हुए मृग आदि का पवित्र चर्म या वस्त्र धारण करे और ग्राम में प्रवेश न करे एवं प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायं काल स्नान संध्योपासन एवं आचमनादि करना चाहिये।[1] श्री मनु जी कहते है कि 'जो उस के खाने योग्य पदार्थ हों, उन में से ही बलिवैश्वदेव करे और अपनी शक्ति के अनुसार भिक्षा दे तथा आश्रम में आये हुए अभ्यागतों का जल, मूल, फल की भिक्षा से सत्कार करे।'[2] 'नित्य वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय में लगा रहे, इन्द्रियों का दमन करे, सब में मैत्री भाव रखे, मन को वश में रखे, सदा दान दे, पर प्रतिग्रह न ले और सब प्राणियों पर दया रखे।'[3] नदी, तालाब आदि जलाशय में गले से नीचे तक जल में रहे। एवं वानप्रस्थी को उचित है कि वह तीनों समय स्नान कर के पितरों और देवताओं का तर्पण करे एवं अत्यन्त कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीर को सुखाये।[4] हारीत स्मृति में वानप्रस्थ धर्म का वर्णन करते हुए महर्षि हारीत ने कहा है कि वानप्रस्थी वन में उत्पन्न हुए अथवा अनिन्दित नीवारादि अन्न से शाक मूल फलों से यत्नसहित अपना

---

1 वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा ग्रामं च न प्रविशेत्। वसि० स्मृ०, श्लो 235
त्रिषवणमुदकमुपस्पृशेत्। वसि० स्मृ०, श्लो 240

2 यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्यात् बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफल भिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान्।। म० स्मृ०, 6/7

3 स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।। म० स्मृ०, 6/8

4 उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन् देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः।। म० स्मृ०, 6/24

को वश में कर समाधि लगाये तप करता है, वह पापों से रहित निर्मल और शांतरूप वानप्रस्थ सनातन दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।[1]

शंखस्मृति में वानप्रस्थ धर्म के विषय में वर्णन है कि गृहस्थ मनुष्य जिस समय देखे कि देह का मांस सूख गया है अर्थात् बुढ़ापा आ गया है और पौत्र को देख ले तब वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करने के निमित्त वन को चला जाये।[2]

विष्णुस्मृति में वानप्रस्थी का वर्णन है कि– प्रथम साल भर के लिये विधिपूर्वक वन के आहार को संग्रह कर वानप्रस्थों के धर्म मे स्थित आलस्य को छोड़ और इन्द्रियों को जीतकर जो समय विताता है[3] इन सब कर्म के करने वाले वानप्रस्थ को भूरिसंबार्षिक कहते हैं। मरणकाल तक वन में रहे और मृत्यु की इच्छा भी न करे।[4] इत्यादि वानप्रस्थ धर्म के गुण कहे जाते है।

---

1. तपो हि यः सेवति वन्यवासः समाधियुक्तः प्रयतांतरात्मा।
विमुक्तपापो विमलः प्रशांतः स याति दिव्यं पुरुषं पुराणम्।।
हा० स्मृ०, 5/10
2. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वल पलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। शं स्मृ०, 6/1
3. वार्षिक वन्यमाहारमाहत्य विधिपूर्वकम्।
वनस्थ धर्ममानिष्ठन्नयेत्कालं जितेन्द्रिय।। वि० स्मृ० 3/12
4. भूरिसंबार्षिकश्चायं वनस्थः सर्वकर्मकृत्।
आदेहपतनं निष्ठेन्मृत्युं चैव न काङ्क्षति।। वि० स्मृ०, 3/13

संन्यासाश्रम : श्री मनु जी कहते हैं कि आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर के आयु के चतुर्थ भाग में विषयों को त्याग कर संन्यास आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिये।[1]

महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा है कि संन्यासी को सांसारिक समस्त कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये किन्तु एक वेद का त्याग न करे क्योंकि वेद के त्याग कर देने से संन्यासी शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।[2]

श्री मनु जी ने कहा है कि 'संन्यासी अग्नि रहित, गृहहीन, सब से निःस्पृह, स्थिर बुद्धि, मौनी और ब्रह्मभाव में समाधिस्थ होकर समय बिताये तथा उसे केवल भिक्षा के लिये ही गाँव में जाना चाहिये।[3]

एवं भिक्षा के लिये 'नारायण हरि' की आवाज उच्चारण कर देने पर भीतर से कोई गृहस्थ भिक्षा लेकर न आये या ठहरने के लिये न कहे तो वहाँ न ठहरे और दूसरे घर पर चला जाय तथा जहाँ दूसरा भिक्षु भिक्षा के लिये खड़ा हो, वहाँ भी न ठहरे। जिस घर में तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी

---

1. वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
   चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्।। म० स्मृ०, 6/33
2. संन्यसेत् स सर्वकर्माणि वेदमेक न संन्यसेत्।
   वेद सन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्।। वसि० स्मृ०, श्लो 248
3. अग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
   उपेक्ष को ऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः।। म० स्मृ०, 6/43

कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हो, वहां भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये।[1]

शंख स्मृति में कहा गया है कि 'जब गृहस्थों के घर में रसोई का धुआं बंद हो जाये, मूसल का काम पूरा हो जाये, अग्नि बुझ जाये और गृहस्थ के भोजन के बाद जूठे सकोरे फेंक दिये जाएं, उस समय संन्यासी नित्य भिक्षा के लिये जाए क्योंकि अग्नि प्रज्वलित रहे तो गृहस्थ मनुष्य उस संन्यासी के उद्देश्य से अधिक भोजन बना सकता है एवं संन्यासी को पांच या सात से अधिक गृहस्थों के घर भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये और जो कुछ मिले उसी में सन्तोष करना चाहिये।[2] मनु जी ने कहा है कि संन्यासी एकान्त में रहकर जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि अपने नित्य कर्म का पालन करे, किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा भाव न रखे। यम नियमों का त्याग न करे। अपना जीवन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि में ही लगाये, क्योंकि इन सब के करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं 'इन्द्रियों को वश में करने से राग-द्वेष के नाश से और प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी अमृतत्त्व मोक्ष पाने में समर्थ हो जाता है।[3]

---

1. न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
   आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगामुपसंव्रजेत्।। म० स्मृ०, 6/51
2. विधूमेसन्नमूसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
   अतीते पात्र सम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्।। शं० स्मृ०, 7/2
3. इन्द्रियाणां निरोधेन --- भूतानाममृतत्वाय कल्पते।। म० स्मृ०, 6/60

(ग) शिष्यधर्म : शिष्य धर्म के विषय में मनुस्मृति में वर्णन है कि शिष्य को गुरु के आसन पर नहीं बैठना चाहिये परन्तु घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, महल की छत, कुश की चटाई शिलाखण्ड तथा नाव पर गुरु के साथ (समान आसन) पर बैठ सकता है।[1]

शिष्य को चाहिये कि वह गुरु की अपेक्षा अपने अन्न वस्त्र तथा वेश को हीन (कम) रखे। वह गुरु के सोकर उठने से पहले उठे और उनके सोने के बाद सोये।[2]

क्रुद्ध गुरु के मुखपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये[3] और मनसा, वाचा, कर्मणा से गुरु की सेवा में तत्पर रहे।

(घ) गुरुधर्म : गुरु का भी धर्म है कि वह शिष्य को पुत्र की तरह मानता हुआ और उसकी उन्नति की इच्छा करता हुआ सभी धर्मों में कुछ भी गुप्त न रखते हुऐ उसे विद्या प्रदान करे।[4]

गुरु का धर्म अर्थात् वास्तविक गुरु वही होता है जिसके हृदय में शिष्य के प्रति कल्याण की भावना होती है

---

1. गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च।
   आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च। म० स्मृ०, 2/204
2. हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
   उतिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्। म० स्मृ०, 2/194
3. न कुद्धस्य गुरोर्मुखम् वि० स्मृ० 71
4. पुत्रमिवैनमनुकांक्षन् सर्वधर्मेष्वनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत।
   क्या० क० क्या० न क० पृ० 173

और जो हृदय से शिष्य का कल्याण चाहता है वही वास्तविक गुरु है।

(ङ) **नारीधर्म :** स्त्री का सब से बड़ा धर्म है पति की सेवा करना, उस के अनुकूल रहना, पति के सम्बन्धियों को प्रसन्न रखना और सर्वदा पति के नियमों की रक्षा करना–ये पतिव्रता स्त्रियों के धर्म हैं।[1] जो स्त्री लक्ष्मी जी के समान पतिपरायण होकर अपने पति को साक्षात् भगवान् का स्वरूप समझ कर सेवा करती है, उस के पतिदेव वैकुण्ठलोक में भगवत्सारूप्य को प्राप्त होते है और वह लक्ष्मीजी के समान उनके साथ आनन्दित होती है।[2] पति की आयु बढ़ने की अभिलाषा रखने वाली पतिव्रता स्त्री को हल्दी, रोली सिन्दूर, काजल आदि,चोली, मांगलिक आभूषण आदि, केशों को सँवारना, चोटी गूँथना तथा हाथ–कान के आभूषण इन सब को अपने शरीर से दूर नहीं करना चाहिये।[3] पतिका निवास–स्थान धन–वैभव से रहित हो तो भी पत्नी को वहीं निवास करना चाहिये। उस के लिये पति की समीपता को ही सुवर्णमय मेरु पर्वत बताया गया है। स्त्री के लिये पति के निवास–स्थान को

---

1. स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
   तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्।। भा० पु०, 7/11/25
2. या पतिं हरिभावेनभजेच्छ्रीरिव तत्परा।
   हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिवमोदते।। भा० पु०, 7/11/29
3. हरिद्राकुंकुमं चैव सिन्दूरं कज्जलादिकम्।
   कूर्पासकं च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणादिकम्।।
   केश संस्कारकबरीकरकर्णादिभूषणम्।
   भर्तुराष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता।। शि० पु० रु० पा०, 54/34-35

छोड़ कर अपने पिता के घर भी रहना वर्जित है। पिता के स्थान और आश्रय में आसक्त होने वाली स्त्री नरक में डूबती है वह सब धर्मों से रहित हो कर सूकर योनि में जन्म लेती है।[1] जो स्त्री अपने पति के मन के अनुकूल चलती और सदा उसे सन्तुष्ट रखती है, वह अपने पति के पुण्य का आधा भाग प्राप्त कर लेती है।[2]

'स्त्री सब प्रकार से समादरणीय तथा रक्षणीय है' इस का प्रतिपादन करते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि परिवार में पति के बड़े भाई, चाचा तथा सास, ससुर एवं देवर और पुत्रादि के द्वारा आभूषण, वस्त्र तथा भोजन इत्यादि से स्त्री की सदा सेवा-पूजा इत्यादि करनी चाहिये।[3] मनु स्मृति में बताया गया है कि जिस कुल में इन की पूजा नहीं होती, उस कुल में की गयी याग आदि सभी क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।[4] जिस कुल में पत्नी से पति संतुष्ट रहता है और पति से पत्नी संतुष्ट रहती है, उसी कुल में

---

1. भर्तृस्थाने हि वस्तव्यमृद्धि हीनेऽपि भार्यया।
स मेरुः काञ्चनमयः सन्निधाने प्रचक्षते।।
मनो नाम मेरुर्यत्र त्वं रमसे विभो।
भर्तृस्थानं परित्यज्य स्वपितुर्वापि वर्जितम्।।
पितृस्थानाश्रयरता नारी तमसी मज्जति।
सर्वधर्मविहीनापि नारी भवति सूकरी।। ना० पु०, उत्त० 112/27
2. स्वपतेरपि पुण्यस्य योषिदधर्मवाप्नुयात्।
चित्तस्यानुव्रता शश्वद्वर्तते तुष्टिकारिणी।। प० पु०, उत्त० 112/27
3. भर्तुः भ्रातृपितृव्यैश्च श्वश्रूश्वशुरदेवरैः।
युत्रैश्च पूजनीया स्त्री भूषणाच्छादनाशनैः।। वसि० स्मृ०, 5/18
4. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
पत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। म० स्मृ०, 3/56

निरन्तर कल्याण होता रहता है।[1] महर्षि वसिष्ठ कहते है कि स्त्री को चाहिये कि वह परम संतोष का आश्रय ग्रहण कर स्वयं संतुष्ट रहे और अपने सद्‌गुणों के द्वारा पति को संतुष्ट करे। वह सदा धर्माचरण में प्रवृत्त रहे और सदा पति की सेवा में परायण रहे। कुछ भी कठोर वचन न बोले, सदा मधुर वाणी ही बोले। जो भी अन्न, वस्त्र, द्रव्य इत्यादि प्राप्त हो, उसी में संतुष्ट रहे, कभी भी दुःख, कष्ट, संताप न माने। अत्यधिक कष्टदायी स्थिति होने पर भी पतिका निषेध न करे, उसे वैसा ही आदर-मान दे।[2]

वाल्मीकि रामायण में बताया गया है कि जो नारी जाति और गुणों की दृष्टि से परम उत्तम है और सदा व्रत तथा उपवास में ही तत्पर रहती है, वह भी यदि अपने पति के अनुकूल रहकर उस की सेवा न करे तो उसे पापियों की गति मिलती है।[3] देवताओं की पूजा और वन्दना से दूर रहने पर भी जो स्त्री अपने स्वामी की सेवा में लगी रहती है, वह उस सेवा के प्रभाव से उत्तम स्वर्ग

---

1. संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा तथैवच।
   यस्मिन्नेव कुलं नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। म० स्मृ०, 3/60
2. संतोषं परमास्थाय पतिं संतोषयेद् गुणैः। सदा धर्मपथे युक्ता सदा भर्तृपरायणा।।
   पुरुषं न वदेत् किंचित् सदा मधुरवाग्भवेत्।
   यथोत्पन्नेन द्रव्येण संतुष्टा विगतज्वरा।।
   परमापद्‌गता वापि भर्तारं न निषेधयेत्। वसि० स्मृ०, 5/61-63
3. व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा।।
   भर्तारं नानुवर्तेत साचपापगतिर्भवेत्। वा०रा०, 2/24/25-26

लोक को प्राप्त होती है।[1] जो स्त्री अपने पति के लिये वशीकरण का प्रयोग करती है, उस के सारे धर्म व्यर्थ हो जाते हैं और वह दुराचारिणी स्त्री नरक में ताबें के भाड़ में पन्द्रह युगों तक जलायी जाती है। पति ही नारी का रक्षक है, जो उस के ऊपर वशीकरण का प्रयोग करती है, वह कैसे सुख पा सकती है। वह सैकड़ो बार पशु–पक्षियों की योनि में जन्म लेती है और अन्त में गलित कोढ़ के रोग से युक्त होती है।[2]

(च) राजधर्म : जो राजा अपने धर्म में निरत, प्रजाओं का पालन, सात्त्विक यज्ञ करने वाला, शत्रुओं को जीतने वाला, क्षमावान्, इन्द्रिय विषयों से विमुख तथा वैराग्यवान् होता है, वह राजा सात्त्विक कहलाता है।[3] विष्णु धर्म शास्त्र में राजा के मुख्य धर्म के विषय में कहा गया है कि राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा का परिपालन और वर्णाश्रम–धर्म की व्यवस्था है। राजा को यह देखते रहना चाहिये कि लोग अपने–अपने वर्ण के अनुसार अपने–अपने धर्म का पालन कर रहे है या नहीं, यदि नहीं तो उनके लिये यथोचित्त

---

1. भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।।
   अपिया निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्। वा०रा०, 2/24/26-27
2. कालेन पञ्चतां प्राप्ता गता नरकयातनाम्।
   ताम्रभ्राष्ट्रे ह्यहं दग्धा युगानि दश पञ्च च।।
   भर्तानाथौ गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेवच।
   तस्य वश्यं चरेद्यातु सा कथं सुखमाप्तुयात्।।
   तिर्यग्योनिशतं याति कृमि कुष्ठसमन्विता। ना० पु०, 3, 14/36,40-41
3. 'स हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्' शु० नी०, 1/31

व्यवस्था करनी चाहिये।[1] आनन्द रामायण में भगवान् श्री राम राज्य धर्म बतलाते हुए कहते हैं। कि दीर्घ आयु की कामना वाले राजा को कभी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये।[2] राजा को प्रजा का पालन पुत्रवत् करना चाहिये।[3] सूर्य वंशी राजाओं के विषय में महाकविकालिदास लिखते हैं कि वे राजा लोग अपनी प्रजा के हित के लिये प्रजा से उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना कर के बरसाने के लिये ही सूर्य पृथ्वी से जल लिया करता है।[4] महात्मा विदुरकी दृष्टि में राजा के लिये धर्म ही सर्वोपरि पालनीय और आचरणीय है– राजा के लिये उचित है कि वह धर्म से ही राज्य प्राप्त करे, धर्म से ही उस की रक्षा करे, क्योंकि धर्ममूलक राज्य को पाकर न तो राजा ही राज्यलक्ष्मी को त्यागता है और न लक्ष्मी ही उसे छोड़ती है।[5]

महर्षि वसिष्ठ राजा का मुख्य धर्म बतलाते हुए कहते है कि– समस्त प्राणियों का पालन–पोषण और उन की रक्षा करना ही राजा का स्वधर्म है और वही उस का मुख्य धर्म है। अपने स्वार्थ की चिन्ता न कर के प्रजा की भलाई और

---

1. प्रजापरिपालनं वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्। ध० शा० अं० पृ० 243
2. अनृतं नैव वक्तव्यं नृपेण चिरजीविना।। आ० रा०, रा० का०, 16/4
3. 'पुत्रवत् पालनीयाश्च प्रजा नृपतिना भुवि' आ० रा०, रा० का०, 16/8
4. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
   सहस्रगुणामुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।। र० वं०, 1/18
5. धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
   धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते।। वि० नी०, 2/31

प्रजा के सुख की प्राणपण से चेष्टा करना, सबको धर्माचरण में लगाना अर्थात् जिस भी कर्मादि से प्रजा का कल्याण हो, वैसा करना–कराना–इस से राजा को स्वतः ही परमसिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।[1]

(छ) राष्ट्रधर्म : देशकाल और परिस्थिति अनुकूल जो कर्म उचित हो उस को भी धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे 'राष्ट्रं नः प्राणाः' इस ध्येय वाक्य के अनुसार अपने राष्ट्र को अपने प्राणों के समान समझना देश धर्म अथवा राष्ट्रधर्म है।

(ज) आपद्धर्म : परिस्थितिवश यदि सौ प्राणियों की जीवन रक्षा हेतु यदि एक प्राणि के जीवन को समाप्त भी करना पढ़े तो ऐसी परिस्थिति में यह प्राणि हत्या अधर्म न हो कर धर्म की श्रेणी में आये गा। ऐसे धर्म को आपद्धर्म की संज्ञा दी गई है।

(झ) युगधर्मः विभिन्न युगों में पालन किया जाने वाला धर्म युग धर्म कहा गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सत्य युग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान को परम धर्म माना गया है।[2]

---

1. स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात् सिद्धि। वसि० स्मृ०, 19/1
2. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
   द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे। म० स्मृ० 1/86

पंचम अध्याय
मानवधर्म

पंचम अध्याय

मानवधर्म

(क) धर्म की आवश्यकताः महाभारत में कहा गया है कि धर्म ही सत्पुरुषों का हितकर है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और तीनों लोक धर्म से ही चलते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि भारतीय धर्मशास्त्रों में धर्म का बड़ा महत्त्व है, धर्म हीन मनुष्य को शास्त्रकारों ने पशु बतलाया गया है। हितोपदेश में कहा गया है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये पशुओं और मनुष्यों में समान है।, केवल मनुष्यों में धर्म ही विशेष है और धर्महीन मनुष्य पशु के समान समझना चाहिए।[2] चाणक्यनीति में कहा गया है कि कुछ व्यक्ति अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा देते हैं। जिन व्यक्तियों के पास न विद्या है, न तप है, न दान देने की प्रवृत्ति है, न सदाचार के पालन की भावना है, न किसी प्रकार का कोई अन्य गुण है और न ही धर्म–पालन में जिनकी रुचि है, ऐसे व्यक्ति इस संसार में मनुष्य के रूप में भूमि पर भार बने हुए पशु समान ही होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन व्यर्थ है।[3] धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिस का

---

1. धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचरः।। मा० ध० पृ० 5
2. आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।
हि० उप० श्लो 25
3. येषां न विद्या न तपो न दानं न ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।। चा नी० 10/7

अर्थ है– धारण करना या पालन करना होता है। जो संसार में समस्त जीवों के कल्याण का कारण हो, उसे ही धर्म समझना चाहिये। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए निर्मलात्मा त्रिकालज्ञ ऋषियों ने धर्म की व्यवस्था की है। भारतीय पद्धति के अनुसार शिशु के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त छोटे–बड़े कार्यों का धर्म से सम्बन्ध है। भारतीयों की राजनीति और समाजनीति धर्म से कोई अलग वस्तु नहीं है। अन्य धर्मावलम्बियों की भाँति भारतीय केवल साधन–धर्म को ही धर्म नहीं मानते, परन्तु अपनी प्रत्येक क्रिया को ईश्वरार्पण कर के उसे परमात्मा की प्रप्ति के लिये साधनोपयोगी बना सकते हैं।

धर्म चार प्रकार के माने गये हैं– वर्ण धर्म, आश्रम धर्म , सामान्य धर्म और साधन धर्म। ब्राह्मणादि वर्णों के पालन करने योग्य भिन्न–भिन्न धर्म वर्ण धर्म और ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के पालन करने योग्य धर्म, आश्रम धर्म कहलाते है। सामान्य धर्म उसे कहते है जिस का मनुष्यमात्र पालन कर सकते हैं, उसी का दूसरा नाम मानव धर्म है। आत्म ज्ञान में बाधक तत्त्वों की निवृत्ति के लिये जो निष्काम कर्मों का अनुष्ठान होता है, वह (यानी समस्त कर्मों का ईश्वरार्पण करना) साधन धर्म कहलाता है। इन चारों धर्मों का पालन करने पर ही धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। इन चारों में से कोई ऐसा धर्म नहीं है, जिस की उपेक्षा की जा

सकती हो। मानव धर्म इसीलिये विशेष महत्त्व रखता है कि उस का पालन मानव मात्र हर समय कर सकते हैं, परन्तु वर्णाश्रम धर्मका पालन तो भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा भिन्न-भिन्न अवस्था में एवं अपने-अपने स्थान और समय पर ही किया जा सकता है। जिस प्रकार ग्रहस्थ संन्यासी का या संन्यासी गृहस्थ का धर्म पालन नहीं कर सकता, परन्तु मानव धर्म के पालन करने का अधिकार प्रत्येक नर नारी को है, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रम का हो। इस से कोई सज्जन यह न समझें कि मानव धर्म का पालन करने वाले को वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकता ही नहीं है। आवश्यकता सब की है। अतएव किसी का भी त्याग न कर, सब का सञ्चय कर के यथाविधि योग्यतानुसार प्रत्येक धर्म का पालन करना और उसे ईश्वरार्पण कर परमार्थ के लिये उपयोगी बना लेना उचित है।

विभिन्न शास्त्रकारों में से किसी ने मानव-धर्म के आठ लक्षण, किसी ने दस, किसी ने बारह और किसी-किसी ने पंद्रह, सोलह या इससे भी अधिक बतलाये हैं और श्रीमद्भागवत् पुराण में तीस लक्षणों का वर्णन किया गया है।

श्री मनु महाराज कहते हैं कि 'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या,

सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण है।[1] ये एसे धर्म हैं कि जिन में किसी भी जाति या सम्प्रदाय को आपत्ति नहीं हो सकती। सत्य बात तो यह हैं कि यही मनुष्य–जाति के स्वभाविक धर्म हैं। मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास इन्हीं धर्मों के आचरण से हो सकता है। जिस समय मनुष्य अपने स्वभाव के विरुद्ध इन कर्मों का पालन करना छोड़ देता है, उसी समय उस की अधोगति होती है। जब मनुष्य–जाति में इन धर्मों की प्रधानता थी तब जगत् में सुख और शान्ति का साम्राज्य था, ज्यों–ज्यों इन धर्मों के पालन से मनुष्य जाति विमुख होने लगी, त्यों–ही–त्यों उस में दुःख और अशान्ति का विस्तार होने लगा और आज मनुष्य इन्हीं धर्मों का बहुत अंश में ह्रास हो जाने के कारण अपने–अपने क्षुद्र स्वार्थतापन के लिये परस्पर वैरभाव को प्रश्रय देते हुए हिंसक पशुओं की भाँति एक दूसरी को ग्रास कर जाने के लिये तैयार हैं और इसी से आज अपने को बुद्धिमान समझने वाले मनुष्यों की बस्तियों में प्रायः कहीं पर भी सुख शान्ति देखने में नहीं आती। जिधर देखिये उधर ही देश के देश दुःख के दावानलसे दग्ध हो रहे हैं। धनी से धनी और गरीब से गरीब सभी अशान्त प्रतीत होते हैं। दरिद्र, कंगाल और दलितों की अभावमयी अशान्ति और उनका दुःख तो प्रत्यक्ष ही प्रकट है।

---

1. द्रष्टव्य म० स्मृ०, पृ० 315

ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित होकर जनता पर इच्छानुसार शासन करने वाले, विज्ञान के नये-नये आविष्कारों से जगत् को स्तम्भित करने वाले, युद्ध सामग्रियों के प्रचुर संग्रह से दूसरे देश और जातियों को भयवीत करने वाले, अपने कवित्व की अद्भुत कला से लोगों को मुग्ध करने वाले, धर्मोपदेशक के आसन पर बैठकर स्वर्ग का सीधा मार्ग बताने वाले, आँख मूँदे हुए सिर हिला-हिला कर सुनने वाले, सम्पादकीय कुर्सी पर बैठकर सारे जगत् की समालोचना करने वाले, बड़ी-बड़ी सभाओं में चिल्ला-चिल्लाकर शब्दों की झड़ी लगाने वाले और संसार के अन्यान्य व्यापारों में बड़ी-से-बड़ी कृति करने वाले लोगों की हृदय गुफाओं में यदि घुसकर देखा जाये तो सम्भवतः उन में से अधिकांश का अन्तर अशान्ति की धधकती हुई ज्वाला से जलता हुआ मिलेगा। हम लोगों ने परमात्मा को भुलाकर ओर उस की प्रसन्नता के हेतु भूत सामान्य मानव धर्म का न्यूनाधिक रूप में तिरस्कार कर मनुष्य स्वभाव के सर्वथा विपरीत पशुधर्म का आचरण आरम्भ कर दिया है। हम लोग इस बात को प्रायः भूल गये हैं कि धर्म ही मनुष्य का आधार है। भगवान् श्री कृष्ण भागवत में उद्धव जी से कह रहें हैं- 'उद्धव! अहिंसा, सत्य, काम, क्रोध और लोभ से रहित होना तथा प्राणियों की हितकारी और

प्रिय चेष्टाओं में संलग्न रहना ये सामान्यतया सभी वर्णों के धर्म हैं।'[1]

मनु महाराज कहते हैं कि पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जातिवाले ये परलोक में सहायता नहीं करते, केवल एक धर्म ही सहायक होता है। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही पुण्य पाप का भोग करता है, भाई-बन्धु तो मरे शरीर को काष्ठ और मिट्टी के ढ़ेले की तरह पृथ्वी पर छोड़कर वापस लौट आते हैं, केवल धर्म ही प्राणी के पीछे पीछे जाता है। अतएव परलोक की सहायता के लिये प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा धर्म सञ्चय करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य धर्म की सहायता से कठिन नरकादि से तर जाता है।'[2] धर्माचरण में यदि आरम्भ में कुछ कठिनता प्रतीत हो तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये।

मनु जी कहते है कि 'पापी, अधर्मियों की शीघ्र ही बुरी गति होती है, ऐसा समझ कर पुरुष को चाहिये कि धर्म से दुःख पाता हुआ भी अधर्म में मन न लगावे।'[3]

---

1. अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।। भा० पु० 11/17/21
2. नापुत्र हि सहायार्थ --- तपस्तरति दुस्तरम्।। म० स्मृ०, 4/239-242
3. न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामशु पश्यन्तिपर्ययम्।। म० स्मृ०, 4/171

(ख) मानवमात्र के करणीय तथा अकरणीय कर्म

मानव धर्म के नव भेदः महाभारत में पितामह भीष्म ने व्यक्ति के पालन के लिये सामान्य धर्म (मानव धर्म) के नव भेद बताये हैं– अर्थात् 1. किसी पर क्रोध न करना, 2. सत्य बोलना, 3. धन को बाँटकर भोगना, 4. समभाव रखना, 5. अपनी ही पत्नी से सन्तान पैदा करना, 6. बाहर–भीतर से पवित्र रहना, 7. किसी से द्रोह न करना, 8. सरल स्वभाव रखना एवं 9. भरण–पोषणयोग्य व्यक्तियों का पालन करना–ये सभी मानव जाति के लिए पालन योग्य सामान्य धर्म हैं।[1]

नव विकर्म अथवा निन्दित कर्म= नव ऐसे विकर्म है, जो सर्वथा त्याज्य हैं– 1. असत्य–भाषण, 2. परदारासेवन, 3. अभक्ष्य–भक्षण, 4. अगम्यागमन, 5. अपेयपान, 6. हिंसा 7. चोरी, 8. वेदबाह्य कर्मों का आचरण तथा 9. मैत्र धर्म का निर्वाह न करना यह नव प्रकार के निन्दित कर्म हैं।[2]

नव प्रकार की परमगोपनीय बातें 1. आनी आयु, 2. धन, 3. घर का कोई भेद, 4. मन्त्र, 5. मैथुन, 6. औषधि, 7. तप, 8. दान तथा 9. अपमान ये नव बातें परम गोपनीय हैं, इन्हें प्रकट नहीं करना चाहिये।[3]

---

1. अक्रोधः सत्यवचनं सविभागःक्षमा तथा
   प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च।।
   आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः। जी० च० अं०, पृ०, 214-215
2. अनृतं पारदार्य च –––तानि सर्वाणि वर्जयेत्। द० स्मृ०, 3/10-12
3. आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्र मैथुनभेषजम्।।
   तपो दानावमानौ च नव गोप्यानि यत्नतः। द० स्मृ०, 3-12-13

आपत्तिकाल में भी अदेय नव वस्तुएँ: प्रजापति दक्ष जी ने नव ऐसी वस्तुओं का निर्देश किया है, जिन्हें आपत्तिकाल में भी किसी दूसरे को नहीं देना चाहिये–
1. सर्वमान्य जनता की सम्पत्ति, 2. चंदे की राशि, 3. दूसरे को देने के लिये मिली हुई वस्तु या धनोहर की सम्पत्ति, 4. बन्धन की वस्तु, 5. अपनी पत्नी, 6. पत्नी का धन, 7. जनता की सम्पत्ति, 8. अमानत की वस्तु तथा 9. संतान–परम्परा के होने पर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति।[1]

लिखित स्मृति में बताया गया है कि गीले वस्त्रों को पहन कर अथवा दोनों हाथ घुटनों से बाहर कर के जो जप, होम और दान किया जाता है, वह सब निष्फल हो जाता है।[2]

नीचों से भी ग्रहण करने योग्य= विषय में भी अमृत, अपवित्र स्थल में भी पड़ा स्वर्ण, नीच व्यक्तियों से भी उत्तम विद्या तथा अनुत्तम कुल से भी स्त्री रत्न ग्रहण कर लेना चाहिये।[3] गरुड़ पुराण में बताया गया है कि अपने–अपने स्थान या पद पर स्थित रहने पर ही मनुष्य

---

1. सामान्यं याचितं न्यस्तमाधिदाराश्च तद्धनम्।
अन्वाहितं च निक्षेपः सर्वस्वं चान्वये सति।। द० स्मृ०, 3/17
2. आर्द्रवासास्तु --- कुर्याज्जपहोमप्रतिग्रहम्।। लि० स्मृ० श्लो० 61
3. विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादत्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्टकुलादपि।। ज्यो० त० वि० सं० पृ० 552

का आदर होता है। दाँत, केश, नख, तथा मनुष्य- ये चारों अपने स्थानों से भ्रष्ट होने पर आदर नहीं पाते अतः बुद्धिमान मनुष्य को अपने स्थान का त्याग नहीं करना चाहिये।[1]

(ग) मानवमात्र का व्यवहार

जल के प्रतिः मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि जल के भीतर मल–मूत्र और मैथुन नहीं करना चाहिये।[2]

नदी के प्रतिः अग्निपुराण में वर्णन मिलता है कि किसी नदी पर पहुँचने के बाद देवता और पितरों का तर्पण किये बिना उसे पार नहीं करना चाहिये।[3]

अग्नि के प्रतिः पीठ की ओर से अग्नि का सेवन नहीं करना चाहिये।[4] अग्नि में कोई अपवित्र वस्तु नहीं ड़ालनी चाहिये।[5]

---

1. स्थानस्थितानि पूजयन्ते च पदे स्थिताः।
   स्थानभ्रष्टा न पूज्यन्ते केशा दन्ता नखानराः।। गरु० पु० आ, 115/73
2. नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा मैथुनं वा समाचरेत्। मा० क० पु०, 34/24
3. असन्तर्प्य पितृन्देवान् नदीपारं च नव्रजेत्। अ० पु०, 155/22
4. 'न पृष्ठं परितापयेत्' म० भा०, आ० वर्प० 92
5. 'न मेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ' म० स्मृ०, 4/53

मित्र के प्रतिः जिस बात से मित्र लज्जित हो जाये या उस के मन में फर्क पड़ जाये अथवा उस का चित्त दुःखी हो जाये, उस बात को कभी भी नहीं कहना चाहिये।[1]

वृक्ष के प्रतिः मानवमात्र का यह महत्त्वपूर्ण धर्म है कि ज्यादा से–ज्यादा संख्या में वृक्षारोपण करना चाहिये ताकि हमारे देश का वातावर्ण शुद्ध हो। वातावर्ण शुद्ध होने से कई प्रकार के रोग दूर हो जाते है। अगर हमें कोई वृक्ष सूखता हुआ दिखायी दे तो हम सब का यह धर्म बनता है कि उसे जल प्रदान करें ताकि वह वृक्ष हरा भरा हो सके क्योंकि उस में भी आत्मा है।

(घ) धर्म की महत्ताः मानवमात्र के धर्म शास्त्रों के अनुसार बताये हुए अपने–अपने धर्म का पालन अवश्य करना चाहिये, इसी में सब का परम हित और कल्याण है। भगवान् ने गीता में कहा है– 'अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म की अपेक्षा गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म के पालन में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।[2] श्री मनुजी ने कहा है– जो मनुष्य धर्म का अतिक्रमण (उल्लघंन) करता है, अर्थात् धर्म का परित्याग करता है, तो

1. लज्जयते च --- च धीमता। शु० नी०, 3/229-230
2. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मेण निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। भ० गी,

धर्म उसे क्षमा नहीं करता है। उस का समूल नाश कर डालता है। परन्तु जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है, सच्चे ह्रदय से धर्म का अनुष्ठान करता है तो धर्म भी उस की रक्षा करता है।[1] स्वधर्म का महत्त्व और फल भगवान् ने गीता में इस प्रकार बताया है–

'अपने–अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरुप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वभाविक कर्मो में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म के परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को सुनो। जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उतपत्ति हुई है और जिस से यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मो द्वारा पूजा (सेवा) कर के मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।[2] पद्मपुराण में कहा गया है कि धर्म का सार सुनें और सुनकर इसे धारण करें। दूसरों के द्वारा किये हुए जिस बर्ताव को अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिये।[3] इसलिये मनुष्य को उपर्युक्त निष्काम भाव से तत्परतापूर्वक अपने धर्म का पालन करना चाहिये, भारी आपत्ति पड़ने पर भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। विदुर की दृष्टि में धर्म का आचरण सर्वोपरि है। कामना भय, लोभ तथा इस

1. धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
   तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतो वधीत्।। म० स्मृ०, 8/15
2. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः --- विन्दति मानवः।। भ० गी, 18/45-46
3. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैतत्प्रधार्यताम्।
   आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।। प० पु०, सृ०, 19/355

जीवन के लिये भी कभी धर्म का परित्याग न करे। कारण–धर्म नित्य है और सुख–दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है किन्तु उस का हेतु (अविद्या) अनित्य हैं इस लिये अनित्य को छोड़कार नित्य में स्थित होना चाहिये और संतोष धारण करना चाहिये, क्योंकि संतोष ही सब से बड़ा लाभ है।[1] तात्पर्य यह है कि स्वधर्म का त्याग कदापि न करे। इसी में सब का कल्याण है।

महर्षि वसिष्ठ कहते है कि यदि विद्वान् व्यक्ति साधु–महात्मा या योगीजनों द्वारा अभिमत आचार पद्धतिका अनुपालन करता है तो उस के लिये ऐसे धर्म का पालन आत्यन्तिक फल प्रद हो जाता है, उस के लिये संसार छूट जाता है और वह पोक्ष–पद को प्राप्त कर लेता है।[2]

---

1. न जातु कामान्न ---- तोषपरो हि लाभः। वि० नी०, 8/12–13
2. आत्यन्तिकफलप्रदं मोक्षं संसारमोचनम्।
   योगिनां सम्मतं विद्वानाचारमनुवर्तते वसि० स्मृ०, 29/21

उपसंहार

उपसंहार

धर्म का क्षेत्र बहुत व्यापक है। धर्म सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा है और धर्म पर ही सारा संसार टिका है। धर्म ही सत्पुरुषों का हितकर है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और धर्म से ही तीनों लोकों का संचालन होता है।

'श्रुतिस्मृति विहितो धर्मः– श्रुति (वेद) और स्मृति में जो कहा है, वही धर्म है।

धर्मशास्त्रों में धर्म तथा सत्य की रक्षा के लिये एवं समाज का कार्य सुचारुरूप से चले इस दृष्टि से अर्थात् समाज को एक अभिन्न सूत्र में बाँधने के लिये सामाजिक व्यवस्था अर्थात् वर्णाश्रम आदि की धर्म व्यवस्था एवं मर्यादा निरूपित की गयी है, जिस के माध्यम से संकेत दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति इन निर्धारित नियमों के आधार पर अपने–अपने कर्त्तव्य का निःस्वार्थभाव से पालन करें और इसी का नाम 'स्वधर्म' है। कर्त्तव्य और धर्म दोनों एक ही है। मनुष्य को परिस्थितिरूप से जो कर्त्तव्य प्राप्त हो जाये, उस का पालन करना भी मनुष्य का धर्म है। जैसे, कोई विद्यार्थी है, तो विद्या प्राप्त करना उस का धर्म है। कोई साधक है, तो तत्परता से साधना करना उस का धर्म है।

वर्ण व्यवस्था के अनुसार कोई शूद्र है, तो सेवा करना उस का धर्म है। अगर कोई क्षत्रिय है, तो रक्षा करना उस का धर्म है, इसी प्रकार सभी वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

वर्ण व्यवस्था के अनुसार कोई शूद्र है, तो सेवा करना उस का धर्म है। अगर कोई क्षत्रिय है, तो रक्षा करना उस का धर्म है, इसी प्रकार सभी वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र स्वकर्त्तव्य का पालन करें तो वही धर्म है। इस वर्ण विभाग के विना तो किसी मनुष्य का भी कार्य नहीं चल सकता। पहले समूची पृथिवी पर ही इस का प्रचार था अब भी भारतवर्ष में तो यह प्रचलित है ही। भारत वर्ष के अतिरिक्त यूरोप, अमेरिका आदि देशों में भी यह प्रकारान्तर से प्रचलित है। भेद इतना ही है कि यहाँ जन्म और कर्म दोनों से वर्ण माना जाता है और वहाँ केवल कर्म की ही प्रधानता है। जैसे पादरी, मौलवी, अध्यापक, व्याख्यानदाता आदि जो कार्य करते हैं, वह एक प्रकार से ब्राह्मण का ही काम करते हैं। व्यापारी, किसान, पशु–रक्षक आदि वैश्य का ही काम करते हैं एवं श्रमिक आदि शूद्रका ही काम करते हैं। इस प्रकार ये चार विभाग विदेशों में भी हैं, पर हैं कर्म से। इस विभाग के बिना तो किसी भी देश का कार्य नहीं चल सकता। धर्म सब के लिये बराबर है। शास्त्रों में जन्म और कर्म दोनों से ही वर्ण–विभाग माना गया है और उसी में सब का परमहित है। यदि जाति का ब्राह्मण है और उस का आचरण शूद्र जैसा है तो वह ब्राह्मण वास्तव में ब्राह्मण नहीं है। इसी प्रकार जाति का तो शूद्र है और आचरण ब्राह्मण के जैसा है तो वह शूद्र नहीं है।

मानवमात्र का मुख्य धर्म स्वार्थ और अभिमान का त्यागकर के तत्परतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करना और किसी को कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न देना। वास्तव में धर्म वही है, जिससे अपना भी हित हो और दूसरे का भी हित हो। जो धर्म अविरोधी है, किसी को हानि नहीं पहुँचाता, किसी की मान्यता पर आघात नहीं करता, वही धर्म है। संसार एक यात्रियों का समूह है। सभी यात्री हैं। सभी कहीं जा रहे हैं। यह लोक यात्रा जिस साधन से सरल–सुगम बने वही धर्म है। इसी प्रकार जगत् में जितने प्राणी उत्पन्न हैं, उन सब की जीवन–यात्रा सुविधा से जैसे चले, ऐसा लक्ष्य निर्धारित कर जो धर्म वेदों में और शास्त्रों में विहित है, जिस के आचरण से अपना और जनसमुदाय का भला हो वही मानव का धर्म है।

'धारणाद्धर्मः' प्रत्येक वस्तु को जिस प्रयोजन के लिये भगवान् ने रचा है, उस प्रयोजन की परिपूर्ति करना ही उस वस्तु का धर्म है। अग्नि का धर्म है ताप एवं पका देना। जल का धर्म है– शुद्ध करना और पीने से प्राण रक्षण करना।

अपने धर्म का पालन करने से लोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं और परलोक में स्वर्गादि ऊँचे लोकों की प्राप्ति होती है। यदि सिद्धि–असिद्धि में सम होकर अपने धर्म का पालन किया जाये तो मनुष्य पाप और

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशुचः।।

तात्पर्य यह है कि अपने-अपने धर्म का पालन अवश्य करना चाहिये, पर आश्रय धर्म का न लेकर भगवान् का ही लेना चाहिये। धर्म का पालन तो शरीर को लेकर होता है, पर भगवान् का आश्रय स्वयं को लेकर होता है। धर्म का निष्कामभावपूर्वक पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, पर भगवान् का आश्रय लेने से मोक्ष के साथ-साथ परम प्रेम की भी प्राप्ति होती है। मोक्ष में तो अखण्ड (एक रस) आनन्द है, पर प्रेम में अत्यन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) आनन्द है।

इस प्रकार रक्षित हुआ धर्म प्राणिमात्र का पालन करता है। धर्म ही मनुष्यों को अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग कर के दूसरों का हित करना सिखाता है। धर्म हर मनुष्यों को मर्यादा में रखता है, उन को उच्छृंखल नहीं होने देता। धर्म ही समाज में मनुष्यता लाता है। धर्म ही समाज में संघर्ष को मिटाकर शान्ति की स्थापना करता है। धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करने से ही मनुष्य ऊँचा उठता है। यदि मनुष्य धर्म का त्याग कर दे तो वह पशुओं से भी नीचा हो जायेगा। इस लिये मनुष्य को किसी भी अवस्था में अपने धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारत के अन्त में भगवान् वेद व्यास जी कहते हैं-

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवतस्यापि हेतोः।

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

'कामना से, धन से, लोभ से, अथवा प्राण बचाने के लिये भी अपने धर्म का त्याग न करे, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उस के बन्धन का हेतु (राग) अनित्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशन-स्थल	संस्करण
1.	अग्निपुराण	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रैस, गोरखपुर	1970
2.	अङ्गिरसस्मृति	पं० सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
3.	अथर्ववेद	दयानन्द (अर्पण)	वि० मा० उ० परि० (पंजी०) 46/5 सा० दा० के० पू० कै० न० दिल्ली	संवत् 2062
4.	अध्यात्मरामायण	अनु० मुनिलाल	गीता प्रैस, गोरखपुर	संवत् 2066
5.	अष्टावक्रमहागीता	काका हरिओइम वेदान्ताचार्य	मनोज पब्लिकेशन	
6.	अत्रिस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
7.	आनन्दरामायण	अनु० पाण्डेय रामतेज शास्त्री	पण्डित पुस्तकालय काशी	1958
8.	आपस्तबंस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
9.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी 1949
10.	ऋग्वेद	दयानन्द (अर्पण)	वि० मा० उ० परि० (पंजी०) 46/5 सा० दा० के० पू० कै० न० दिल्ली	
11.	औशनसस्मृति	पं० श्री रामशर्मा आचार्य	डा० च० ला० गौतम सं० संस्० ख्वाजा कुतुब, (वे० न०) बरेली	1987
12.	कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	जनवरी 1949
13.	कुमारसम्भवम्	कालिदास	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी	2001
14.	क्या करें, क्या न करें ?	राजेन्द्र कुमार धवन	गीता प्रैस, गोरखपुर	संवत् 2064

15.	गरुड़पुराण	महर्षि वेदव्यास	रणधीर बुक सेल्स रे० रो० हरिद्वार	
16.	चाणक्यनीति	किरण बारिया	लक्ष्मी प्रकाशन बल्लीमारान, दिल्ली	
17.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
18.	जीवनचर्याङ्क कल्याण	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर	2010
19.	ज्योतिष तत्त्व विवेचनी संहिता	वेद्य० पं० हरीश कुमार गर्ग ज्योतिषाचार्य	वे० प० ह० कु० ग० ज्योतिषाचार्य खजूरी का० दिल्ली	
20.	तैत्तिरीयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
21.	दक्षस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
22.	दुर्गासप्तशती	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
23.	धर्मशास्त्राङ्क कल्याण	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर	2010
24.	नारदपुराण	अनु० पं० ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी	गीता प्रेस, गोरखपुर	
25.	पतŒजलयोगसूत्र	पतŒजलि	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1980
26.	पद्मपुराण	महर्षि वेदव्यास	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1960
27.	पराशरस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
28.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	
29.	बृहस्पतिस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
30.	ब्रह्मपुराण	महर्षि वेदव्यास	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	1960
31.	भगवद्गीता	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995
32.	भागवतपुराण	महर्षि वेदव्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995

33.	मनुस्मृति	टी० पं० श्री हरिगोविन्द शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी	सं० द्वि० 2003
34.	महाभारत	महर्षि वेदव्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर	1995
35.	मानवधर्म	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रैस, गोरखपुर	
36.	मार्कण्डेयपुराण	अनु० पं० ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी	रणधीर प्रकाशन सेल्स रे० रो० हरिद्वार	
37.	मुण्डोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	1949
38.	यजुर्वेद	दयानन्द (अर्पण)	वि० मा० उ० परि० पंजी०) 46/5 सा० दा० के० पू० कै० न० दिल्ली	संवत् 2062
39.	याज्ञवल्क्यस्मृति	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी	तृ० सं० 1985
40.	योगसूत्र	नन्दलाल दशोरा	रणधीर प्रकाशन हरिद्वार	2004
41.	रघुवंश	कालिदास	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी	
42.	रामचरितमानस	तुलसीदास	गीता प्रैस, गोरखपुर	
43.	लिखितस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
44.	वसिष्ठस्मृति	पं० श्री रामशर्मा आचार्य	डा० च० ला० गौतम, संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब, (वे० न०) वरेली	1987
45.	वाल्मीकिरामायणम्	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रैस, गोरखपुर	संवत् 2017
46.	विदुरनीति	युधिष्ठिर मिमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट सोनीपत	1971
47.	विष्णुपुराण	महर्षि वेदव्यास	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1969
48.	विष्णुस्मृति	पं०सुन्दर लाल	खेम राज कृष्णदास	2002

		जी त्रिपाठी	बम्बेई 4	
49.	वेदान्तसार	सदानन्द	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी	
50.	व्यासस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
51.	शंखस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
52.	शिवपुराण	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	
53.	शुक्रनीतिसार	स्वामी जगदीश्वरानन्द	विजय कु० गो० राम नई० सड़क दिल्ली	1996
54.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
55.	साधनाङ्क कल्याण	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर	
56.	सामवेद	दयानन्द (अर्पण)	वि० मा० उ० परि० पंजी०) 46/5 सा० दा० के० पू० कै० न० दिल्ली	
57.	स्कन्दपुराण	महर्षि वेदव्यास	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1969
58.	हारीतस्मृति	पं०सुन्दर लाल जी त्रिपाठी	खेम राज कृष्णदास बम्बेई 4	2002
59.	हितोपदेश	श्री नारायण राम आचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी	सं०द्वि० संवत् 2051